अग्निहोत्र

[अग्निहोत्र सम्बन्धी सार गर्भित निबन्ध]

लेखक
देवराज विद्यावाचस्पति

प्रकाशन मन्दिर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

ओ३म्

स्वाध्याय मञ्जरी का बीसवां पुष्प

अग्निहोत्र

[अग्निहोत्र सम्बन्धी सार गर्भित निबन्ध]

★
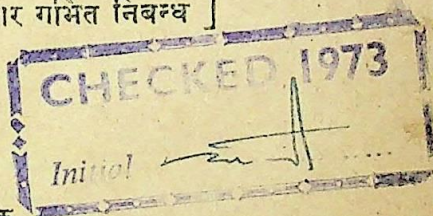
लेखक

देवराज विद्यावाचस्पति

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सभासदों की सेवा में

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी की ओर में

सम्वत् २००८ की भेंट

मूल्य २।)

प्रकाशक
प्रकाशन मन्दिर
गुरुकुल कांगड़ी
(सहारनपुर)

प्रथम वार १०००
संवत् २००७

मुद्रक
पं० हरिवंश वेदालङ्कार,
गुरुकुल मुद्रणालय,
गुरुकुल कांगड़ी ।

विषय-सूची

★

सोमसरोवर— लेखक श्री चमूपति एम. ए.। यह ग्रन्थ सामवेद के पवमान पर्व का सुललित भाष्य है। इस पुस्तक का पाठ पाठक के हृदय में कभी अद्भुत तरङ्ग, कभी वीर तरङ्ग और कभी शान्त तरङ्ग प्रवाहित करके हृदय को आलोकित कर देता है। इन्हीं तरङ्गों से अठखेलियां करता हुआ भक्त अपने प्रियतम उपास्यदेव के ध्यान में मग्न हो जाता है। सामवेद भक्तों के लिये भक्ति का स्रोत है। पाठक भक्तिरस के इस झरने का पयःपान करें, निश्चिन्तता से अध्ययन करें, मनन करें। पुस्तक की भाषा सजीव है, बढ़िया कागज, छपाई सफाई उत्तम है। मूल्य सजिल्द २), अजिल्द १॥)।

वेद गीताञ्जली—इसमें ढाइसौ के लगभग वेदमन्त्र, उनका अर्थ और उन पर एक-एक सुन्दर हिन्दी कविता है। कविता मधुर स्वर में प्रार्थना के समय गाने योग्य है। इनका स्थान २ पर प्रचार भी हो रहा है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त, गिरिजा शङ्कर मिश्र, सन्तप्रसाद वर्मा, श्री चमूपति, प्रियहंस, परमहंस, निरीह व निश्चिन्त आदि हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने इस गीताञ्जली के संकलन में सहयोग दिया है। पुस्तक की छपाई सफाई बढ़िया है। मूल्य २)।

धर्मोपदेश—(**तीन भाग**) यह पुस्तक श्री स्वामी श्रद्धानन्द महाराज के उच्च, गम्भीर आत्मा को उठाने वाले उपदेशों का संग्रह है। सग्रहकर्ता हैं श्री स्वामी जी के अनन्य भक्त लाला लब्भूराम जी नैय्यड़। मूल्य प्रथम भाग १), द्वितीय भाग १), तृतीय भाग १॥)।

पता—प्रकाशन मन्दिर, गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी, हरिद्वार।

अग्निहोत्र

अग्निहोत्र की यज्ञ रूपता और विविधरूपता

सन्ध्या कर्म करने के पश्चात साधक अग्निहोत्र कर्म में प्रवृत्त होता है। अग्निहोत्र को देवयज्ञ भी कहते हैं।

हवनं होत्रम्, अग्नौ हवनम् अग्निहोत्रम्। किसी पदार्थ को अग्नि में डालने का नाम अग्निहोत्र है। हूयते इति होत्रम्। जो पदार्थ डाला जाय उसे होत्र कहते हैं। अग्नि में जो पदार्थ डाला जाता है उस पदाथ का नाम भी अग्निहोत्र है। अग्नि में अग्नि के उपयोगी द्रव्य डालने से अग्निहोत्र कर्म किया जाता है। अग्नि का उपयोगी द्रव्य वह द्रव्य है जो अग्नि के द्वारा छिन्न भिन्न होकर अग्नि के स्वरूप (शरीर) को बनाता है। अग्नि द्रव्य को छिन्न भिन्न करके नये नये रूप बनाया करता है।

जितने रुप विश्व में विद्यमान हैं वे सब अग्नि ने बनाये हैं। वे सब प्रजा हैं और अग्नि प्रजापति है। अग्नि जिस मसाले को लेकर विश्व के रूप को बनाता है उस का नाम सोम है। अग्नि और सोम के मेल से सम्पूर्ण विश्व बना है। अग्नि अस्थिर पदार्थ है और सोम स्थिर पदाथ है। सृष्टि में अग्नि में सोम की आहुति अपने आप पड़ती रहती है उसी से सब रूप स्थिर प्रतीत हो रहे हैं। सोम की निरन्तर अत्यधिक मात्रा में आहुति पड़ने

से अग्नि का बल कम हो जाता है। अग्नि शनैः २ सोम को पदार्थ में से निकालता रहता है और पदार्थ को जीर्ण कर देता है और पश्चात् स्वयं भी शान्त हो जाता है। जब तक अग्नि में सोम के आने का बल अधिक रहता है तब तक पदार्थ की वृद्धि होती रहती है जब सोम के पड़ने का बल अग्नि के बल के समान होता है तब स्थिति होती है और जब सोम के आने का बल अग्नि के बल से न्यून हो जाता है तब क्षय होने लगता है और अन्त को मृत्यु हो जाती है। इसीलिये कहा है—

अग्निषोमात्मकं जगत्।

अग्नि में सोम की आहुति पड़ने का नाम अग्निहोत्र है। सृष्टि में निरन्तर अग्नि होत्र हो रहा है। सूर्य में निरन्तर सोम की आहुति पड़ रही है, सूर्य चमक रहा है। पृथिवी की अग्नि में सोम की आहुति पड़ रही है, अग्नि जल रहा है—प्रदीप्त हो रहा है। सूर्य भी ज्योति है और अग्नि भी ज्योति है। ज्योति के दो रूप हैं, १ सूर्य २ अग्नि।

सोम दाह्य है और अग्नि दाहक है। दाहक का काम है अवयवों को फैला देना। दाह्य सोम दाहक अग्नि से उलटा है वह अवयवों को संकुचित करने वाला है। अग्नि प्रसारधर्मा है और सोम संकोचधर्मा है। प्रसारधर्मा दोनों ज्योतियों में संकोचधर्मा सोम की आहुति निरन्तर पड़ती रहती है।

दिन में सूर्य ज्योति सोम की आहुति विशेष ग्रहण करती है। पृथिवी से निरन्तर प्रसृत होता हुआ अग्नि रात को विशेष रूप से सोम को ग्रहण करता है। इसी के अनुकरण पर याजक

वा अग्निहोत्री मनुष्य भी प्रातःकाल 'सूर्योज्योतिः' मन्त्र से अरुणोदयकाल के पश्चात् अर्थात् सूर्योज्योति में आहुति देता है और सायंकाल अस्तोन्मुख सूर्य होने पर अर्थात् अग्नि ज्योति में 'अग्निर्ज्योतिः' मन्त्र से आहुति देता है। प्रातःकाल और सायंकाल को इन आहुति मन्त्रो में सूर्य ज्योति और अग्नि ज्योति दोनों ज्योतियों का वर्णन है। सूर्य ज्योति और अग्नि ज्योतियों का अपने २ समय में ध्यान करके 'भू, भुवः और स्वः' तीनों लोक (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः) और उनके तीनों लोकी (अग्नि, वायु, आदित्य = सूर्य और अध्यात्म सम्बन्ध में उनके तीनों लोकी (प्राण, अपान, व्यान) का ध्यान किया जाता है।

लोक तीन ही नहीं हैं, चौथा भी लोक है जिसको आयो-लोक कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण कहता है—

अस्ति वै चतुर्थो देव लोकः-आयः।

सम्पूर्ण सौर मण्डल आयो लोक के अन्तर्गत है। तीनों लोकों का कथन करने के पश्चात् अब एक मन्त्र में तीनों लोकों के साथ चतुर्थ लोक को मिलाकर और फिर सब लोकों को इकट्ठा एक ओम् शब्द से कहते हैं—

आपोज्योति रसोऽमृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरोम्।

अन्त में इस सब को पूर्ण शब्द से कहते हैं—

सर्वं वै पूर्णम्।

सब को मिला कर ओम् शब्द से कहा था, अब उसे पूर्ण कहा है। अतः ओम् पूर्ण है। कहा है—

ओमित्येतत् सर्वमिदं तस्योपव्याख्यानम् ।

ओम् यह सब पूर्ण है। जो कुछ दीखता है यह सब उस ओम् की व्याख्या है। सब देव मिलकर पूर्ण ओम् का यजन कर रहे हैं—उसकी व्याख्या कर रहे हैं—सृष्टि के एक-एक रूप को प्रकट कर रहे हैं। इस प्रकार यह सब सृष्टि देवयज्ञ है।

ब्रह्मयज्ञ में तो आत्मा की पूर्णता का ध्यान था। देवयज्ञ उस पूर्ण एक ब्रह्म का, सृष्टि निर्माण के लिये, विविध शक्तियों के रूप में विकास है वा आत्मा का शरीर में इन्द्रियों के रूप में विकास है। देवयज्ञ का ही दूसरा नाम अग्निहोत्र है। जैसे देवयज्ञ में देवों का परस्पर मेल होता है वैसे अग्निहोत्र में भी होता है। शतपथ में कहा है--

सूर्योऽग्निहोत्रम् ।

हूयते यत्र इति होत्रम्, अग्निश्चासौ होत्रश्चेति अग्नि होत्रम्। सूर्य अग्नि है उसमें सोम का सर्वदिक् से होम होता रहता है अतः सूर्य अग्निहोत्र है। पार्थिव अग्नि की ज्वाला ऊपर को जाती है और उसमें चारों ओर से वायु के साथ साथ इन्द्र प्रभृति सब प्राण देव अग्नि की ज्वाला में प्रविष्ट होते हैं और अग्नि में पड़े हुये सोम (औषधियों) को खाते हैं—उनके साथ युक्त होते हैं और विविध प्रकार के जीवनोपयोगी पदार्थों का निर्माण करते हैं। ये पदार्थ अन्तरिक्ष व्यापी जल में मिले हुए पृथिवी के द्वारा चूसे जाते हैं, औषधि आदि विविध पदार्थों का निर्माण करते हैं। अग्नि देवों का मुख है। अग्नि पदार्थों को सूक्ष्म करता है। सूक्ष्म हुए पदार्थों के साथ देव

अर्थात् प्राकृतिक शक्तियां वा सूक्ष्म पदार्थ संबद्ध होते हैं।

सूर्य की अग्नि के साथ सोम की विविध मात्रा और संबंध के तारतम्य से पदार्थों का निर्माण होता है और वे पदार्थ सूर्य की रश्मियों के द्वारा पृथ्वी में आते हैं और स्थूल रूप धारण करते हैं। इस प्रकार पदार्थों की उत्पत्ति का आधार सूर्य की अग्नि के होने से सूर्य को अग्निहोत्र कहा है।

जैसे सूर्य का अग्नि अग्निहोत्र है वैसे पार्थिव अग्नि भी अग्निहोत्र है। पार्थिव अग्नि में भी सोम का हवन चारों ओर से होता रहता है। इसके अतिरिक्त सूर्य की अग्नि से निर्मित पदार्थों का परिपाक (स्थूल रूप की प्राप्ति) पार्थिव अग्नि के द्वारा होता है। अतः इस परिपाक के कारण पार्थिव व अग्नि का नाम गार्हपत्य अग्नि और सूर्याग्नि का नाम आहवनीयाग्नि रक्खा है। पृथिवी सौर मण्डल के अन्तर्गत होने से सूर्य के द्वारा दिये हुए पदार्थों को ग्रहण किया करती है। सूर्य पृथिवी को नानाविध पदार्थ दे देकर, पुष्ट किया करता है और पृथ्वी भी नानाविध पदार्थ अग्नि के द्वारा सूर्य को दिया करती है। पृथ्वी से निरन्तर जाते हुए अग्नि में यज्ञकर्त्ता इष्टपदार्थ को डाल कर अपना मनोयोग करता है और क्रमशः उस मनोयोग के द्वारा दिव्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध करता है। इस प्रकार दिव्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध करने का अग्निहोत्र एक साधन है।

जब साधक अपने वासनामय जगत् का होम आत्माग्नि में करता है तब उसका मन पवित्र हो जाता है। वह सम्पूर्ण जगत् को आत्मा के विकास के रूप में आत्ममय देखता है। यह ब्रह्माग्नि होत्र या आत्माग्निहोत्र है।

शिष्य गुरुरूप अग्नि को अपने मन के श्रद्धाबल से समिन्धन करता है। समिद्ध गुरुरूप अग्नि में श्रद्धा के द्वारा ही शिष्य अपनी अभिलाषाओं का होम करता है। गुरुरूप अग्नि में अभिलाषाओं के होम से वे अभिलाषायें ज्ञान अग्नि का रूप होकर चमक जाती हैं और सफल होती हैं। इस श्रद्धा रूप होम से शिष्य को श्रत् (परि पक्व ज्ञान) प्राप्त होता है।

श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

किसी एक मर्यादा में बधे हुये मनुष्य अपने व्यापक रूप अग्नि से व्रत ग्रहण करते हैं कि अमुक कार्य विशेष को पूरा करेंगे। अनुगामी मनुष्य अपने आपको पूरी तरह इसे अपने नेता के अधीन करता है। नेता उसे अपनी भावनाओं से भावित करता है इससे अनुगामी के हृदय की अग्नि सुप्रदीप्त हो जाती है तब जो आदेश वह नेता उन अनुगामी मनुष्यों को देता है उसका पूरी तरह से पालन होता है और कार्य में सफलता होती है।

मनुष्य अपनी चित्तवृत्तियों को समाहित करता है—आत्माग्नि में उनका हवन करता है। इस हवन से उसकी बुद्धि में जागृति हो जाती है और अनेक प्रकार की नई नई बुद्धियों की स्फुरणा होने लगती है।

स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति।

इस प्रकार आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक भेद से अग्निहोत्र के नाना स्वरूप हैं। सभी रूपों में अग्नि और

सोम का सम्बन्ध समान है। एक अग्नि और दूसरा पदार्थ जिसका होम होता है वह सोम है। अग्नि और सोम के सम्बन्ध से विविध प्रकार के फलों की उत्पत्ति हो रही है।

जिस प्रकार ईश्वर की सृष्टि में अग्निहोत्र हो रहा है उसी के अनुकरण पर मनुष्य भी अग्निहोत्र किया करता है और नानाविध पदार्थों की उत्पत्ति किया करता है। अपनी जाठराग्नि में मनुष्य अन्न का हवन किया करता है। यह अन्न इडा और गो नाम से कहा जाता है। इडा शब्द का अर्थ खाने की चीज वा अन्न है और भूमि भी इसका अर्थ है। भूमि और अन्न को गो भी कहते हैं। गोमाता (भूमि माता) के रस वा सोम का सूर्य में हवन होता रहता है। गोमाता का रस अन्न रूप में परिणत हुआ २ सूर्याग्नि की प्रतिनिधि जाठराग्नि में हुत होता है। गोरस (पृथ्वी के रस) में विद्यमान सोम का समुच्चय चन्द्रमा सोमरूप से अन्तरिक्ष में विद्यमान है। यह चन्द्रमा पृथ्वी के रस में विद्यमान सोम पदार्थ को ग्रहण कर सूर्याग्नि में आहुत किया करता है।

चन्द्रमा की उत्पत्ति ईश्वरीय मन से हुई है। कहा है—

चन्द्रमा मनसो जातः।

ईश्वरीय मनोमय कला का अंश मनुष्य देह में विद्यमान है। उस मन के लिये कहा है—

अन्नमयं हि सोम्य! मनः।

अन्न में विद्यमान सूक्ष्म सोम तत्व से मनुष्य का मन धात्वान्तर परिणाम में अन्तिम परिणाम के रूप में होता रहता

है। इस प्रकार जिस गोरस में विद्यमान सोम का परिणाम अन्तरिक्ष में विद्यमान चन्द्रमा है उसी गोरस के सोमतत्व का परिणाम मनुष्य देह में मन है। इस प्रकार मन गो का वत्स है। अन्न गौ के साथ मन बंधता है तो अन्न अपने अनुकूल पड़ता है। यदि मन अन्न में नहीं लगा—मन ने अन्न को ग्रहण नहीं किया तो वह अन्न अपने उदर में नहीं ठहरता गोरूप अन्न के साथ वत्सरूप मन मिलता है तो अन्न का रस निकलता है जैसे बछड़ा गौ को लगता है तो दूध निकलता है। अन्न रूप गौ के दोहन से निकले हुए रस (दुग्ध) की आहुति जठराग्नि में पड़ती है तो उस रस के सोम भाग से अग्नि का सम्बन्ध होकर अग्नि तृप्त होता है और शरीर की धातुओं का पोषण करता है।

एक मनुष्य की उच्चारित वाक् श्रवण द्वारा दूसरे मनुष्य के मस्तिष्क को प्राप्त होती है। वाक् गौ है। वाक् से मनुष्य अपने मन को प्रकाशित करता है। वाक् जाती है तो मन वाक् का रस होकर उसके साथ जाता है। जो मनुष्य वाक् को सुनता है वह उसके मनरूपी रस को अपने मन के द्वारा ग्रहण करता है। वत्सरूप मन वाक्रूप गौ का दोहन करता है और उस अवस्था में ज्ञान रस की प्राप्ति होती है। वाक् को गौ कहा है:—

वाचंधेनुमुपासीत।

इस प्रकार पता लगता है कि अग्निहोत्र बिना गौ के नहीं होता। अग्नि में जिस सोम की आहुति होती है वह सोम गौ

से प्राप्त होता है। गौ से प्राप्त होने वाला सोम गोरस में रहता है जिस गौ से अग्निहोत्र कर्म के लिए सोम प्राप्त होता है उस गौ को अग्निहोत्री गौ कहते हैं। अग्निहोत्र कर्म करने वाले व्यक्ति को प्रति दिन प्रातः सायं अग्निहोत्री गौ का उपस्थान करना पड़ता है। नहीं उपस्थान करेगा तो सोम के लिए गोरस को कैसे प्राप्त करेगा। उपस्थान करने से यज्ञकर्ता के अपने आत्मा का सम्बन्ध सूत्र दृढ़ होता है।

उपस्थान कर्ता गौ का उपस्थान गार्हपत्य कुण्ड के पश्चिम की ओर किया करता है। जिस समय उपस्थान करता है तो गौ को बुलाता है—

इडे आ, अदिते आ, सरस्वती आ।

इडे एहि, अदिते एहि, सरस्वती एहि।

क्योंकि इडा अदिति और सरस्वती तीनों ही गौ हैं।

इडा हि गौरदितिर्हि गौः सरस्वती हि गौः।

अग्निहोत्र का गौ के साथ कितना घना सम्बन्ध है यह शतपथ के ११ वें काण्ड के तृतीय अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। इस ब्राह्मण में अग्निहोत्र का फल बतलाया है कि जो अग्निहोत्र सम्बन्धी छः मिथुनों (जोड़ों) को जानता है उसकी संतान सर्वदा स्त्री पुरुष रूप में ही हुआ करती है अर्थात् उसको सन्तति विच्छेद नहीं होता। वे छः मिथुन इस प्रकार हैं—

१. यजमान और पत्नी। इसका मतलब है कि बिना पत्नी के अग्निहोत्र नहीं होता।

२. वत्स और अग्निहोत्री। इसका मतलब है कि अग्निहोत्री गौ पुंवत्सा (बछड़े वाली) होनी चाहिए।

३. स्थाली और अङ्गार।

४. स्रुक् और स्रुव।

५. आहवनीय और समित्।

६. आहुति और स्वाहाकार।

यो ह वा अग्निहोत्रे षण्मिथुनानि वेद मिथुनेन मिथुनेन ह प्रजायते सर्वाभिः प्रजातिभिः। यजमानश्च पत्नी च तदेकं मिथुनम्। तस्मादस्या पत्नीवदग्निहोत्रं स्यादेतन्मिथुनमुपाप्नवानीति। वत्सश्चाग्निहोत्री च तदेकं मिथुनम्। तस्मादस्य पुंवत्साऽग्निहोत्रीस्यादेतन्मिथुनमुपाप्नवानीति। स्थाली चाङ्गाराश्च तदेकं मिथुनम्। स्रुक् च स्रुवश्च तदेकं मिथुनम्। आहवनीयश्च समिच्च तदेकं मिथुनम्। आहुतिश्च स्वाहाकारश्च तदेकं मिथुनम्। एतानि हवाग्निहोत्रे षण्मिथुनानि। तानि य एवं वेद मिथुनेन मिथुनेन ह प्रजायते सर्वाभिः प्रजातिभिः॥

शतपथ ब्रा०, काण्ड ११, अध्याय ३, ब्राह्मण २।

यद्यपि अग्निहोत्र कर्म में विवाहित आहिताग्नि गृहस्थी मनुष्य का ही अधिकार है तथापि महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ में ब्रह्मचारी का भी थोड़ा सम्बन्ध बतलाया है जो इसी के अगले ब्राह्मण से जानना चाहिये।

प्रश्न उठता है कि ब्रह्म ने मृत्यु को सब प्रजाएं देदीं परन्तु ब्रह्मचारी नहीं दिया। मृत्यु ने कहा इसमें भी मेरा हिस्सा होना चाहिये। ब्रह्म ने कहा अच्छा ब्रह्मचारी जिस रात समिधाहरण न करे उस रात तेरा (मृत्यु का) इसपर अधिकार है। इस कारण जिस रात ब्रह्मचारी समिधाहरण नहीं करता उस रात वह अपनी आयु का थोड़ा सा भाग खो देता है। इस कारण ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि समिधाहरण करे कि कहीं आयु कम न हो जाय।

जो ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करता है वह दीर्घ सत्र का आरम्भ करता है। ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा के समय जिस समिध का आधान करता है वह इसकी प्रथम समिधा है और स्नातक होने के समय जिस समिध का आधान करता है वह इसकी अन्तिम समिधा है, बीच की सब समिधायें ब्रह्मचर्य व्रत रूपी दीर्घ सत्र की हैं।

ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत् तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्। सोऽब्रवीत् अस्तु मह्यमप्येतस्मिन् भाग इति। यामेव रात्रिं समिधं नाहराता इति। तस्माद् या रात्रिं ब्रह्मचारी समिध नाहरति आयुष एव तामवदाय वसति तस्माद् ब्रह्मचारी समिधमाहरेन्नेदायुषोऽवदाय वसानीति ॥ १ ॥ दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति, स यामुपयन्त्समिधमादधाति सा प्रायणीया यां स्नास्यन्त्सोदयनीया, अथ या अन्तरेण सत्त्या एवास्य ताः ॥ २ ॥

ब्रह्म का जिज्ञासु बालक अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्मचर्य व्रत को ग्रहण करता हुआ अपने दैनिक कार्यक्रम को चार भागों में विभक्त करके भूतों की सेवा में लगा देता है। चतुर्थांश से अग्नि की सेवा करता है कि अग्नि प्रज्वलित रहे। अग्नि की सेवा करके अग्नि को अपना लेता है। अग्नि को ब्रह्मज्ञानोपयोगी करके अपने आत्मा में धारण कर लेता है फिर वह अग्नि ब्रह्मचारी में स्थिर हो जाता है, इसको छोड़ता नहीं। ब्रह्मचारी के आत्मा में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये जो एक प्रकार की हवस है—विकलता है—तीव्र उत्कण्ठा है वह अग्नि का स्वरूप है। उसकी सेवा ब्रह्मचारी को करनी पड़ती है कि वह बुझने न पावे और मन्द भी न होने पाये। अग्नि के मन्द हो जाने से ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य व्रत बिना उद्देश्य का हो जावेगा, नीरस और बे मतलब का होकर बोझ मालूम पड़ने लगेगा। इसलिए ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि अपने समय के चतुर्थांश भाग को श्रद्धायुक्त जिज्ञासा के द्वारा अग्नि सेवा के लिए अर्पण करदे जिससे कि अग्नि मन्द न होने पावे। इसी के चिह्न के रूप में भौतिक अग्नि में समिधा डालकर अग्नि को बुझने से बचाना होता है, साथ ही अग्नि के प्रज्वलित होने से आत्मा को प्रज्वलित रखने के लिये प्रेरणा लेनी होती है।

ब्रह्मज्ञानोपयोगी उत्साह रूप अग्नि को अर्थात् इन्द्र प्राण (aggressive force) को तीव्र कर लेना मात्र ही पर्याप्त नहीं है प्रत्युत अग्नि की यह तीव्रता संस्कृत होनी चाहिये उसमें किसी प्रकार का कालुष्य नहीं होना चाहिये। कलुषित अग्नि में तीव्रता नहीं होती अथवा तीव्र होकर वह दूसरों के अपकार

में प्रयुक्त होती है। यज्ञिय वृक्षों की समिधा से प्रदीप्त अग्नि निर्धूम, निर्गन्ध और तीव्र होती है। आत्माग्नि को ब्रह्मज्ञान रूपी वृक्ष की श्रद्धा समिधा से प्रतिदिन सुदीप्त करना होता है। ब्रह्म अर्थात् अग्नि का वृक्ष पृथ्वी से द्यु तक त्रिकाण्डात्मक है। त्रिकाण्डात्मक अग्नि वृक्ष ऋग् यजुः साम रूप से त्रिविद्यामय है। ब्रह्मचारी ने अपनी आत्माग्नि का ऋग् यजुः-सामात्मक ज्ञान की तीन समिधाओं से प्रतिदिन प्रदीप्त करना होता है। इससे उसका आत्मनिर्माण होता है आत्मा उज्ज्वल होता है। ज्ञानमय आत्मा की एक एक कला ज्ञानमय समिधा के प्रात्याहिक एक एक आधान से खुलती और खिलती चली जाती है। जिस दिन ब्रह्मचारी प्रमाद से समिधाधान नहीं करता उस दिन उसकी ज्ञान कला तो खुलती ही नहीं प्रत्युत वह आवरणकारक वासनामूलक कर्म बन्धन से अर्थात् मृत्यु से बद्ध रह जाता है वा बद्ध हो जाता है। इस प्रकार जिस दिन ब्रह्मचारी समिधाधान नहीं करता उस दिन मृत्यु उस पर आक्रमण करती है अर्थात् उसके आत्मविकास के स्थान में आत्मह्रास के कारण उसकी आयु को हर लेती है। ब्रह्मचारी की ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति कलुषता रहित शुद्ध संस्कृत रूप में तभी कहलाती है जब वह लोकैषणा और वित्तैषणा के बन्धनों से मुक्त होकर हो रही हो। यदि इन एषणाओं के आवरणों से आवृत उसका आत्मा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में लगा है तो भी वह पाप्मा से आवृत रहने से मृत्यु से ग्रस्त ही है, मुक्त नहीं है। इसलिये ब्रह्मचारी के लिये उचित है कि इन एषणाओं से पृथक् रह कर संस्कृत रूप में ब्रह्माग्नि को आत्मा में धारण करे। इस प्रकार ब्रह्मचारी अपने सम्पूर्ण समय का चतुर्थांश अग्नि सेवा में बितावे।

अग्नि की सेवा करता हुआ ब्रह्मचारी अपने समय का चतुर्थ भाग मृत्यु की सेवा में बितावे। क्योंकि ज्ञान—अग्नि की सेवा करते हुए हो सकता है कि ब्रह्मचारी का मन यशः प्राप्ति को वा वित्तोपार्जन को ज्ञानप्राप्ति का लक्ष्य बना ले। इसीलिये लोकैषणा और वित्तैषणा ब्रह्मचारी के लिये मृत्यु है—उसकी आत्मज्योति पर आवरण है। ज्ञान ज्योति से दीप्त आत्मा के होने का स्वतः परिणाम यश और धन की प्राप्ति होना चाहिए, किन्तु ब्रह्मचारी का मन ज्ञान को यश और धन की प्राप्ति का साधन बनाने की ओर नहीं जाना चाहिए क्योंकि इससे ज्ञान गौण हो जावेगा और यश तथा धन की प्राप्ति मुख्य हो जावेंगे। यश और धन की प्राप्ति की ओर मन के झुक जाने से वे सब लौकिक कृत्रिम उपाय मन में उठने लगेंगे जिन से उसका आत्मा अनृत प्रवाह में बहकर कलुषित और मलिन हो जावेगा। मिथ्याभिमान और कृत्रिमता ये मनुष्य के शुद्ध निर्दोष आत्मा पर मृत्यु रूप आवरण हैं। मिथ्याभिमान और कृत्रिमता से बचने के लिये ब्रह्मचारी को चाहिए कि किसी अपने सम्बन्धी आदि से मासिक फ़ीस आदि के रूप में धन के आधार पर अपना निर्वाह न करे। इस प्रकार निर्वाह करने से ब्रह्मचारी के मन से मिथ्याभिमान और दिखावे का मैल छूट नहीं सकता। मिथ्याभिमान हिंसा का रूप है और दिखावा असत्य का रूप है। अहिंसा और सत्य आत्मा के अपने रूप हैं। अहिंसा और सत्य को त्यागना आत्महनन है, मृत्यु के मुख में प्रवेश है। इस मृत्यु से बचने के लिये ब्रह्मचारी को सर्वदा मृत्यु का ख़्याल रखना चाहिए कि किसी प्रकार से भी मिथ्याभिमान और

दिखावे का भाव तो उस के मन में नहीं उठता। इन भावों पर विजय पाने के लिये ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि अपने आप को दरिद्र कंगाल सा करके बिना शर्म के भिक्षा मांगा करे। भिक्षा मांगने से मिथ्याभिमान और दिखावे का भाव जाता रहेगा और इस प्रकार वह मृत्यु पर अधिकार प्राप्त करेगा। आत्महनन से वह बचा रहेगा। दरिद्र होकर बिना शर्म के भिक्षा मांगना यह सचमुच मृत्यु के मुख में प्रवेश करना है। ऐसे दरिद्र भिक्षुक को चारों तरफ से लोग कुछ का कुछ कहते हैं, परन्तु जो ब्रह्मचारी उनके किसी भी कथन की परवाह नहीं करता उसका आत्मा सचमुच बलवान् हो जाता है और उसे कोई भी उसके उद्देश्य से डिगा नहीं सकता। भविष्य में बड़े से बड़े सामाजिक कार्य करने के लिये उसका हौसला बढ़ जाता है। बिना हिचक के लगन (श्रद्धा) के साथ कार्य करते हुए यश और धन तो उसे अनायास प्राप्त हो ही सकते हैं। इस प्रकार अपने आत्मबल को बढ़ाने के लिये ब्रह्मचारी को अपने समय का चतुर्थ भाग मृत्यु सेवा में अर्थात् भिक्षावृत्ति में बिताना चाहिये।

स्नातक होकर फिर भिक्षावृत्ति करना उचित नहीं है क्योंकि वह इस लायक हो जाता है कि उसकी भिक्षा छूट जावे। वह अपने बन्धुओं के आश्रय (Dependency = अशनाया) को और अपने कुटुम्बियों (Relatives = पितरों) के आश्रय को भी छोड़ देता है। लोकाहित के लिये जिस चीज़ की बहुत ही अधिक आवश्यकता समझे उसको मांग ले। यदि कहीं से उसे न मिले तो अपनी आचार्यपत्नी से ही मांग ले। अथवा अपनी

माता से मांग ले। इसी क्रम से सातवीं बार बिना भिक्षा लिये न लौटे। ऐसे ज्ञानी और ऐसे आचारशील ब्रह्मचारी को सब वेद (विज्ञान) आ जाते हैं। जैसे प्रदीप्त अग्नि चमकती है वैसे ही सब विद्याओं से युक्त वह ब्रह्मचारी स्नातक होकर चमकने लगता है जो उक्त प्रकार से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है।

अपने समय का चतुर्थ भाग आचार्य के काम काज करने में तथा उसके पास बैठने में बितावे, और शेष चतुर्थभाग अपने निज के काम काज करने में लगावे।

इस प्रकार सपत्नीक—आचार्य के अग्निहोत्र की अग्नि में ब्रह्मचारी को प्रतिदिन समिधाधान करना चाहिए। ऐसा करने से वह शुद्ध भावना से भावित हो जाता है। आत्माग्नि में श्रद्धा की समिधा के प्रतिदिन आधान से ज्ञानमय आत्मा की एक एक कला को खोलता जाता है। इस प्रकार प्रतिदिन के समिधाधान के द्वारा आवरणकारक वासनामूलक मृत्यु के कर्मबन्धन रूप पाश से मुक्त रहता है। इस प्रकार प्रतिदिन समिधाधान करने वाले ब्रह्मचारी पर मृत्यु अधिकार नहीं जमा सकती, मृत्यु उसकी आयु को कम नहीं कर सकती।

इस प्रकार अग्निहोत्र कर्म में विवाहित अहिताग्नि गृहस्थी मनुष्य का ही अधिकार है। ब्रह्मचारी का कर्तव्य इतना ही है कि अपने व्रत को स्मरण करता हुआ आचार्य की अग्नि में प्रतिदिन प्रातः सायं अपनी श्रद्धा समिधा के रूप में काष्ठ समिधा का आधान कर दिया करे और प्रातः सायम् अग्निहोत्री गौ का उपस्थान कर लिया करे। अब आगे अग्निहोत्र का अधिकारी कौन है उसका सिद्धान्त बतलाया जायगा।

अग्निहोत्र का अधिकारी

अग्निहोत्र करने का उसी मनुष्य को अधिकार है जो 'सृष्टि द्वन्द्वमयी है' ऐसा समझ चुका हो। सृष्टि का अर्थ ही यह है कि जिसमें संसृष्टि हो, परस्पर मेल हो। परस्पर मेल साकांक्ष वस्तुओं का होता है, निराकांक्ष का नहीं। आकांक्षा के पूर्ण होने से तृप्ति होती है। तृप्ति जीवन है और अतृप्ति मृत्यु है। तृप्ति में पूर्णता—भरापन है और अतृप्ति में अपूर्णता खालीपन है। जब तक तृप्ति नहीं होती तब तक आकांक्षा बनी रहती है। आकांक्षा एक बल है जिसको दूसरे शब्दों में कामना वा अशनाया कहते हैं। यह बल आत्मा से उठता है। इस बल का उठना आत्मा की अतृप्ति का द्योतक है। इस बल में जितनी प्रबलता होती है उतना ही अधिक आत्मा की तृप्ति का मार्ग खुल जाता है। आत्मा की तृप्ति के मार्ग के खुल जाने के अनुसार बल की प्रबलता जानी जाती है। उठता हुआ बल अनात्मा पर आक्रमण करता है। आत्मा और अनात्मा का सम्बन्ध उचित मात्रा में कराकर वह बल शान्त हो जाता है। कामना बल का इस प्रकार शान्त हो जाना ही आत्मा की तृप्ति है। आत्मा अनात्मा में परस्पर आकर्षक और आकृष्ट भाव उनके मिल जाने से सन्तुष्ट हो जाते हैं। इस सन्तुष्टि में संसृष्टि विद्यमान है। इस संसृष्टि से सृष्टि हो जाती है जो द्वन्द्वमयी है।

जिन द्वन्द्वों के मेल से सृष्टि होती है उनके अपने २ भाव परस्पर एक दूसरे में संक्रान्त हो जाते हैं अर्थात् परस्पर मिल जाते हैं। परस्पर संक्रान्त भावों के कारण जो सृष्टि होती

है वह अपने घटकों से सर्वथा भिन्न होती है क्योंकि घटक (योजक) तत्व साकांक्ष हैं असन्तुष्ट हैं अतृप्त हैं अपूर्ण हैं, एक दूसरों को पाकर निराकांक्ष सन्तुष्ट तृप्त और पूर्ण होते हैं।

सृष्ट पदार्थों के घटकों में एक आकर्षक होता है और दूसरा आकृष्य होता है। आकर्षक प्रधान है मुख्य है (Positive है) और आकृष्य गौण है (Nagative है)। आकांक्षा, असन्तोष, अतृप्ति, अपूर्णता ये सब भाव खालीपन को सूचित करते हैं। खालीपन को भरने के लिये दूसरी ओर से बहाव होता है। जो पदार्थ बहता है और खालीपन को दूर करता है वह आकृष्ट हुआ कहा जाता है और जिसे भरता है वह आकर्षक कहा जाता है। जो पदार्थ स्थान नहीं घेरता है वह हमेशा खाली है और जो स्थान घेरता है वह हमेशा खाली स्थान चाहता है। आत्मा ऐसा ही पदार्थ है। वह स्थान नहीं घेरता—उसमें स्थाना-वरोधकता नहीं है। जो स्थान नहीं घेरता है वह कितना है यह नहीं कहा जा सकता। स्थानावरोधक न होने से जिस पदार्थ की इयत्ता व परिमाण निर्धारित नहीं हो सकता वह सर्वत्र, सतत प्रवाह रूप और अनन्त सत्तामात्र के सिवाय किस प्रकार निर्दिष्ट हो सकता है? आत्मा सर्वत्र है परन्तु स्थानावरोधक न होने से खाली है। खाली को भरने के लिये चारों ओर से अनात्मा आत्मा की ओर बह रहा है। आत्मा का खालीपन हलचल का, आकर्षण का, गति का कारण हो रहा है। खाली से चारों ओर बलों का उत्थान हो रहा है। इसी के कारण चारों ओर से आता हुआ अनात्मा आत्मा से प्रतितुलित हो २ कर परस्पर

संघात में आ आकर मूर्तिमान् हो रहा है। इस मूर्तिमयी सृष्टि में अनात्मा जिधर से बह कर मूर्तिमान् होता है उस तरफ रिक्तता हो जाने के कारण मूर्तिमान् पदार्थ से रिक्तता की ओर बहाव होने लगता है। इस प्रकार रिक्तता से पूर्णता और पूर्णता से रिक्तता का यह चक्र प्रतिक्षण इस सृष्टि में सर्वत्र सर्वभावों में विद्यमान है। यह सृष्टि चक्र है। सम्पूर्ण सृष्टि में यह चाक्रिक नियम विद्यमान होते हुए उसके एक २ अवयव में विद्यमान है। बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज में यही नियम है। समुद्र से बादल, बादल से वर्षा, वर्षा से नदी, नदी से समुद्र में यही नियम है भोक्ता से भोग्य और भोग्य से भोक्ता में यही नियम है। संवत्सर चक्र, ऋतु चक्र, मास चक्र, अहोरात्र चक्र सब उसी चाक्रिक नियम के रूप हैं। रिक्तता पूर्णता के इस व्यापक चाक्रिक नियम को ही सब मनुष्यों से अनुभूत प्रत्यक्ष चन्द्रमा की कलाओं के क्रमशः वृद्धि और क्षय के चाक्रिक नियम को दर्शपूर्णमास के नाम से व्यवहार किया जाता है।

किसी भी कार्य के मुखिया, अगुआ वा अग्रणी को अग्नि कहते हैं। अग्नि अपने अनुयायी लोगों को अपने विचारों से भरता है और फिर किन्हीं विशेष २ कार्यों के करने के लिये उन्हें प्रेरित करता है। अनुयायी लोग कार्य करने के लिये उसकी प्रेरणा से उद्यत होते हैं। अनुयायी लोगों का अग्नि के सन्मुख आदिष्ट काय के लिये उद्यत होना ही उनका व्रत ग्रहण करना है। व्रत ग्रहण करके अनुयायी लोग कार्य में तत्पर होते हैं। व्रत ग्रहण करते समय अनुयायी लोग अग्नि से इतना अवश्य कहते हैं कि आप चूंकि व्रतपति हैं सबको भिन्न २ कामों में

लगाने वाले हैं अतः ऐसा व्रत धारण कराइये वा ऐसी ड्यूटी (काम) सुपुर्द कीजिए जिसे हम कर सकें और जिसके प्रति किया हुआ हमारा प्रयत्न सफल हो। बस! अब हम अपने मनवचन कर्म को एक करके अर्थात् संगत होकर अनृत भाव से (निकम्मेपन से) सत्य भाव को (कार्यतत्परता को) प्राप्त होते हैं और आपकी कृपा से आपके दिये हुए कार्य को (व्रत को) अवश्य पूर्ण कर डालेंगे। इस प्रकार कार्य तत्पर होकर कार्य पूर्ण करके उन अनुयायी लोगों को व्रतपति अग्नि के पास जाकर कहना पड़ता है कि हे व्रतपते अग्ने! आपने जो हमें काम सौंपा था वह हमने पूर्ण कर लिया उसको हम कर सकें, उस कार्य के प्रति हमारा किया हुआ प्रयत्न सफल हुआ। इस प्रकार अग्नि का आदेश पूर्ण करके फिर अग्नि के पास पहुंचा देने से व्रत समाप्त हो जाता है। व्रत ग्रहण करके समाप्त कर देने के पश्चात् मनुष्य फिर वैसे नहीं बन जाते जैसे वे व्रत ग्रहण करने से पहिले अव्रती, अनृत रूप थे। इसलिये अग्नि के सन्मुख व्रत समाप्त करते हुए वे यह नहीं कहते कि अब हम सत्य से अनृत भाव को प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे अपने मनों का झुकाव कर्तव्य परायणता की ओर हुआ २ अनुभव करते हैं इसलिये वे इतना ही कहते हैं कि अब हम जैसे हैं वैसे हैं। आदेश देता हुआ अग्नि आशावान् वा साकांक्ष हो जाता है और व्रत पूर्ण होने पर वह पूर्ण आशा वाला वा निराकांक्ष हो जाता है। अग्नि का साकांक्ष अवस्था से निराकांक्ष हो जाना यह एक दर्श पूर्णमास चक्र है। यह चक्र सत्य का अवलम्बन करके अथवा मन वचन कर्म की एकता के साथ कार्य में तत्पर होकर पूर्ण होता है।

बिना सत्य का अवलम्ब लिये दर्शपूर्णमास चक्र पूर्ण नहीं होता। इसी प्रकार जो मनुष्य इस नियम को समझ चुका है कि सृष्टि चक्र सत्य के आश्रय अर्थात् मन, प्राण (कर्म) और वाक् (प्रकृति Nature) के परस्पर सामञ्जस्य से चल रहा है वह अग्निहोत्र का अधिकारी है।

अग्निहोत्र की प्रजनन रूपता

जो मनुष्य सृष्टि में उत्पत्ति के सिद्धांत का समझता है वह अग्निहोत्र की प्रजनन रूपता का अनुभव कर लेता है। हम देखते हैं कि स्थानावरोधक पार्थिव पदार्थों की गति पृथिवी की ओर है हम देखते हैं कि अग्नि की गति पृथिवी से विरुद्ध दिशा में है, अग्नि जलते हुए पदार्थ के अवयवों को पृथिवी से विरुद्ध दिशा में ले जाती है। पदार्थ में से अवयवों के निकल जाने से पदार्थ शिथिल और जीर्ण हो जाते हैं। लकड़ी के शहतीर सम्भाल कर रखे हुये कागज़ के बन्डल समय पाकर पड़े पड़े जीर्ण हो जाते हैं। इन पदार्थों के अवयव बाहिर निकल जाते हैं और ये जीर्ण हो जाते हैं अवयवों को बाहर निकाल देने वाली ताकत अग्नि है जो अवयवों को बाहर उठा ले जाती है और पदार्थों को शिथिल तथा जीर्ण कर डालती है। बाधा डालने वाले पदार्थों को अग्नि अपने बल के अनुसार बाहर फेंकता है। अग्नि का विरोधी यह पदार्थ सोम नाम से विख्यात है। सोम भी एक बल है जो अग्नि का विरोधी बल है। अग्नि प्रेरण शील है तो सोम संकोचधर्मा है। दोनों बलों के परस्पर संघात से स्वरूप निष्पत्ति हो जाती है, मूर्ति उत्पन्न हो जाती

है। यदि अग्नि के साथ मिलकर स्वरूप निष्पत्ति करता हुआ सोम पदार्थ अपने मूल को भूमि में जमा दे तो भूमि प्रसून होते हुये अग्नि के द्वारा सोम के प्रसार से औषधि, वृक्ष, वनस्पति आदि का रूप बनने लगता है। यदि सोम अग्नि के साथ मिल कर उच्छिन्न मूल रहे और अग्नि को बद्ध कर ले साथ ही उस अग्नि प्राण के संचार के लिए वह अग्नि द्वारा ही उपयुक्त स्वरूप बन जात तो ऐसे स्वरूप निष्पन्न हो जाते हैं जिन्हें हम जीव वा प्राणी कहते हैं। इन स्वरूपों में वह अग्नि अपना परिस्थिति के अनुसार जिस जिस दिशा विशेष में बाह्य प्रभावों से प्रभावित होती है उस उस दिशा विशेष में उस २ प्रभाव को ग्रहण करते हुए इन स्वरूपों में जो विशेष रचना उत्पन्न हो जाती है उसको इन्द्रिय कहते हैं। सब प्रकार की विविध शक्तियां जो अग्नि का ही विशेष २ रूप हैं अग्नि को अपना अग्रणी, मुखिया कायम करके अर्थात् अग्नि का अवलम्ब लेकर इन स्वरूपों में प्रकट हो जाती हैं। जीवित प्राणियों के शरीर ऐसे ही स्वरूप हैं। शरीर में विद्यमान मुख्य प्राण जिसका नाम अग्नि है अन्नाद कहलाता है। वह अन्न को खाता है। भोग्य पदाथ का नाम अन्न है और अग्नि भोक्ता है। अग्नि अपनी विविध शक्तियों अर्थात् देवताओं के द्वारा विविध भोग्य पदार्थों का ग्रहण करती हुई अपने आपको तृप्त किया करती है। अपनी आकांक्षा को पूर्ण करके अपने आपको निराकांक्ष किया करती है। मुख्य प्राण रूप अग्नि से उठते हुए कामना बल इन्द्रियों के रास्ते से प्राप्त हुए २ भोग्य पदार्थों के द्वारा शान्त व तृप्त होते रहते हैं। शरीर में विद्यमान मुख्य प्राण रूप अग्नि जिससे विविध बलों का उत्थान इन्द्रियों

द्वारा प्रकट होता रहता है उसी को आत्मा कहते हैं। सर्व बलों के उत्थान के केन्द्र विश्वात्मा से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है अतएव विश्वात्मा समष्टि आत्मा है। विविध बलों के उत्थान का केन्द्र देह में विद्यमान मुख्य प्राण रूप अग्नि जिसे देह का निर्माण होता है वह वैश्वानर अग्नि व्यष्टि आत्मा है। बलों के उत्थान के केन्द्र आत्मा को ही प्रजापति कहते हैं क्योंकि वह विविध बलों के रूपों में अपने आप ही प्रजायें उत्पन्न किया करता है। विश्वात्मा महान् प्रजापति है। व्यष्टि आत्मा अणु प्रजापति है। अणु प्रजापति एक २ कोष्ठ में व्यष्टि रूप में विद्यमान है इसलिए वह अणु प्रजापति है। यह प्रजापति ही इन्द्र है जो अपनी विविध मायाओं, शक्तियों वा बलों के द्वारा बहुरूप को धारण किया करता है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते

अग्नि वा इन्द्र से बलों का प्रसार हो रहा है। बलों के प्रसार से ही तो इनकी सत्ता प्रकट होती है। प्रसृत बल इन के सत्य भाव को प्रकट करते हैं, प्रसृत बल इनकी ज्योति है। यह ज्योति ही इनकी प्रजा है, इनका रेतः है। प्रजापति रूप अग्नि से ज्योतिः रूप प्रजा प्रकट होती रहती है। प्रजापति से ज्योतिः रूप में प्रजा का प्रसार वस्तुतः प्रजापति के रेतः का प्रसार है। यह रेतः अपने विविध भोग्य पदार्थों में से मनः संकल्प के द्वारा प्राण व्यापार से जिस २ में आहित होता है वह २ भोग्य पदार्थ भी पृथक् प्रजापति बन जाता है। इसलिए अग्नि का ज्योतिः रेतः है और वह रेतः ज्योतिः अग्नि है।

अग्निः ज्योतिः ज्योतिरग्निः।

अग्नि से गो (किरण) निकलती है। उस गो में अग्नि रेतः रूप में विद्यमान है। जिस भोग्य पदार्थ में ये किरण प्रविष्ट होती हैं उसमें अग्नि का रेतः आहित होता है। रेतः रूप में अग्नि ही आहित होती है। इस आधान से वह पदार्थ भी अग्नि से गृहीत हो जाता है। अग्नि गृहीत पदार्थ में विद्यमान अग्नि अपने पितृ रूप अग्नि से उत्पन्न होने के कारण पुत्र होते हुए भी अग्नि होने से पितृ रूप ही है। इस प्रकार प्रसिद्ध है कि पिता से पिता ही है।

पुत्रः सन् पिता भवति। स पितुः पिताऽसत्।

इस प्रकार अग्नि का पूर्वरूप और उत्तर रूप अग्नि हैं और मध्य रूप जो ज्योतिः है वह रेतः है। मध्य रूप अग्नि प्रसृत रूप है। रेतः उभयतः अग्नि से परिगृहीत है। यह ऐसा ही है जैसे गर्भाधान में स्त्री के गर्भाशय में सिञ्चन किये हुए रेतः अर्थात् वीर्य का शुक्रकीट स्त्री के अग्निमय रजः में विद्यमान स्त्री बीज के अन्दर प्रविष्ट होकर उभयतः अग्नि से परिगृहीत होता है। जैसे गर्भाधान में रेतः अग्नि से उभयतः परिगृहीत होता है इसी प्रकार प्रकृत में रेतः अग्नि के द्वारा उभयतः परिगृहीत होने से उसी की समानरूपता को सूचित करता है अग्नि में रेतः का हवन होने से दोनों का रूप अग्निहोत्र है। इस प्रकार अग्निहोत्र की प्रजनन रूपता स्पष्ट है। इसी प्रजनन रूपता को सूचित करने के लिए 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' मन्त्र में रेतः रूप ज्योतिः को अग्नि से उभयतः परिगृहीत करके

दिखलाया है। सूर्य भी अग्नि है। 'सूर्यो अग्निहोत्रम्' कह कर सूर्य को अग्निहोत्र भी कहा है। सूर्य के सम्बन्ध में 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' न कह कर 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः' कहा है। इस प्रकार यहां भी प्रजनन रूपता ही प्रकट की है।

किन्तु इसके पश्चात् सूर्य के सम्बन्ध में तो 'ज्योतिः सूर्यः सूर्योज्योतिः' कहते हैं और अग्नि के सम्बन्ध में 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' ही कहते हैं, 'ज्योतिरग्निरग्निर्ज्योतिः' नहीं कहते। ज्योतिः को सूर्य के तो बहिर्धा रक्खा है किन्तु अग्नि के बहिर्धा नहीं रक्खा, अग्नि के अन्तर्धा ही रहने दिया है। ज्योतिः रेतः है प्रजा है। ज्योतिः का बहिर्धा रखना प्रजा के उत्पन्न होने (birtn = जन्म) को सूचित करता है, और अन्तर्धा रखना गर्भावस्था को सूचित करता है। इससे स्पष्ट होता है कि सूर्योदय के समान पुत्र का जन्म दिन में होना श्रेष्ठ है, और ज्योतिगर्भित अग्नि के समान गर्भाधान करना रात्रि के समय श्रेष्ठ है। दिन के समय गर्भाधान करने से गर्भाधानकर्ता चमकरहित अज्योतिष्क अग्नि के समान हो जाता है ऐसी सूचना है। रात्रि के समय गर्भाधान करने से गर्भाधानकर्ता अन्तर्निहित ज्योतिष्मान् अग्नि के समान सतेजस्क ही रहता है, वैसा क्षीण नहीं होता जैसा दिन में गर्भाधान करने से होता है। सूर्य के अस्त होने पर ज्योति रूप इन्द्र अग्नि में निहित हो जाने से अग्नि चमकने लगती है, वह इन्द्र अग्नि को चमक दे देता है। सूर्योदय के पश्चात् ज्योतिः—इन्द्र सूर्य की किरणों में खिंच जाने से दिन में अग्नि अपनी चमक खो बैठता है। ज्योतिः—इन्द्र को रात्रि के समय अग्नि में प्रविष्ट होने से अग्नि में इन्द्र का गर्भरूप

से प्रतिष्ठित होना है और दिन के समय अग्नि में से ज्योतिः-इन्द्र के बाहिर हो जाने से इन्द्र का प्रसव है। इस प्रकार इस कुदरत में रात्रि में गर्भाधान क्रिया और दिन में प्रसव क्रिया होती रहती है। सायं प्रातः अग्निहोत्र कर्म करते हुए मनुष्य ने अग्निहोत्र के प्रजनन रूपता के भाव को ग्रहण करना होता है और गर्भाधान तथा प्रसव के वैज्ञानिक भाव से भावित होकर अपने आपको सुरक्षित रखना होता है। मनुष्यों को चाहिए कि सायं प्रातः अग्निहोत्र कर्म करते हुए इन भावनाओं से भावित हुआ करे और पवित्र वातावरण उत्पन्न करके अपनी तथा समाज की रक्षा में उद्यत रहें।

इसके अतिरिक्त अग्निहोत्र को प्रजनन रूपता अन्य प्रकार से इस प्रकार समझनी चाहिए। अग्निहोत्र में मुख्य तो एक ही आहुति है। मुख्य आहुति अग्निहोत्र की देवता है—असली चीज़ है। इसी को लक्ष्य करके दी गई आहुति अग्निहोत्र कर्म पूरा कर डालती है। यह पूर्वाहुति है—असली आहुति है। परन्तु चूंकि अग्निहोत्र का स्वरूप प्रजनन है और प्रजनन दो के बिना नहीं होता। अतः पूर्वाहुति के पश्चात् द्वितीयाहुति की भी आवश्यकता रहती है। यह द्वितीयाहुति कर्म के स्वरूप को पूरा करने वाली होती है अथवा इष्ट (कर्म) को बिलकुल पूरा कर डालने वाली होती है, इसलिये इसका नाम स्विष्टकृत् आहुति है। चूंकि यह आहुति सहायक रूप से है कर्म की प्रजननरूपता को स्पष्ट करने के लिये है अतः पूर्वाभिमुख बैठा हुआ कार्यकर्ता वामहस्त की तरफ उत्तरार्ध में डालता है। स्विष्टकृत् का

यही तरीका है। इससे अग्निहोत्र की प्रजननरूपता स्पष्ट हो जाती है।

इन आहुतियों को अन्य अनेक द्वन्द्वों के रूप में भी समझा जा सकता है। एक आहुतिभूत को बतलाती है तो दूसरी भविष्यत् को, एक पैदा हुए (जात) को तो दूसरी पैदा होने वाले (जानिष्यमाण) को, एक आये हुए (आगत) को तो दूसरी आने वाले (आशा) को, एक आज (अद्य) को तो दूसरी कल (श्व) को। इस प्रकार ये आहुतियां मिलकर द्वन्द्व को ही सूचित करती हैं! द्वन्द्व मिथुन को अर्थात् प्रजनन को कहते हैं। अतः आहुति द्वय में सम्पन्न होने वाले अग्निहोत्र का स्वरूप प्रजनन है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं रहता। इन द्वन्द्वों में से एक आत्मा है तो दूसरी प्रजा है। आत्मा और प्रजा का मिलकर पूरा द्वन्द्व है, पूरा जोड़ा है। आत्मा निश्चित भाव को प्रकट करता है और प्रजा अनिश्चित भाव को। जो हो चुका है अर्थात् भूत है वह तो निश्चित है अतः आत्मा है और जो होने वाला है अर्थात् भविष्यत् है वह अनिश्चित है अतः प्रजा रूप है क्योंकि आगे होने वाली प्रजा अविद्यमान होने से अनिश्चित है। इसी प्रकार जो पैदा हुआ २ है वह तो निश्चित है, सामने है अतः आत्मा है और जो अभी नहीं पैदा हुआ, आगे पैदा होगा वह केवल आशा में है, अविद्यमान होने से अनिश्चित है, अतः प्रजा रूप है क्योंकि आगे होने वाली प्रजा तो आशा में ही है, है तो है ही नहीं। इसी प्रकार जो आया हुआ है वह तो सामने है, निश्चित है अतः आत्मा है और जो आगे आयेगा वह तो आशा में है अतः प्रजा रूप है क्योंकि जो आगे आयेगा वह

अभी तो है ही नहीं, आगे आयेगा, प्रजा भी अभी नहीं है आगे होगा, केवल आशा में है अतः आशा में विद्यमान जो भाव है वह प्रजा रूप है। इसी प्रकार जिसे हम आज कहते हैं वह तो निश्चित है, हमारे सामने है अतः आत्मा के सदृश है और जिसे हम कल कहते हैं वह तो उपस्थित नहीं है अतः ऐसा है जैसे आगे होने वाली अनुपस्थित प्रजा इसलिये कल प्रजा रूप है। इस कारण पहिली जो आहुति दी जाती है उसमें तो आत्मा की पुकार है वह तो अपने को लक्ष्य करके दी जाती है और मन्त्र का उच्चारण करके दी जाती है, क्योंकि स्वयं आहुति देने वाला मनुष्य तो अपने आप में निश्चित है, प्रत्यक्ष है, स्पष्ट है और उच्चारित मन्त्रमयी वाक् भी स्पष्ट है अतः अपने को निर्देश करके दी गई पहिली आहुति मन्त्र बोलकर दी जाती है। परन्तु जो बाद को उत्तरा आहुति दी जाती है वह द्वन्द्व भाव पूरा करने की दृष्टि से प्रजा को लेकर दी जाती है, प्रजा चूंकि प्रत्यक्ष नहीं है, अस्पष्ट है, चुप के सदृश है अतः दूसरी आहुति बिना मन्त्र बोले ही दी जाती है। इस प्रकार अग्निहोत्र की आहुतियों में द्वन्द्व भाव, मिथुन भाव स्पष्ट प्रकट होने से अग्निहोत्र की प्रजनन रूपता निर्विवाद है।

अग्निहोत्र का काल

'अग्निर्ज्योतिः' और 'सूर्यो ज्योतिः' मन्त्र ही बतला रहे हैं कि अग्नि ज्योति और सूर्य ज्योति को लक्ष्य करके अग्निहोत्र की आहुतियां दी जाती हैं। जब सूर्य अस्त हो जाता है तब अग्नि ज्योति होती है और जब सूर्य उदय होता है तब

सूर्य ज्योति होती है। सूर्यास्त पर अग्नि को लक्ष्य करके और सूर्योदय पर सूर्य को लक्ष्य करके आहुति देना सत्यता पूर्वक कर्म करना है। सत्यता के साथ कर्म करने से कर्म देवों को प्राप्त होता है अर्थात् अपने यथेष्ट फल को देने में समर्थ होता है। असत्यता के साथ जो कर्म किया जाय वह निष्फल होता है। इसलिए सायंकाल अग्निहोत्र की आहुति सूर्यास्त होने के पश्चात् देवे और प्रातः काल अग्निहोत्र की आहुति सूर्योदय के पश्चात् देवे।

सब से पहले अग्निहोत्र के प्रारम्भ काल के विषय में प्रश्न उठ सकता है कि जो मनुष्य अपने जीवन में पहले पहल अग्निहोत्र आरम्भ करे वह पहिला अग्निहोत्र सायंकाल करे वा प्रातः काल करे ? इस प्रश्न का उत्तर समझ लेना बहुत ही आसान है। जिस मनुष्य ने अग्निहोत्र की प्रजननरूपता को समझ लिया है और जिसने अग्निहोत्र के मन्त्रों के गर्भाधान और प्रसव रूप को जान लिया है वह स्पष्ट कह सकता है कि पहिला अग्निहोत्र सायंकाल होना चाहिये और दूसरा प्रातःकाल। कारण यह है कि 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस मन्त्र में ज्योतिः गर्भित अग्नि का निर्देश है। ज्योतिः रेतः है। अग्नि (गर्भाशय) से घिरा हुआ रेतः (वीर्य) रहे तो यह गर्भाधान का स्वरूप हो जाता है। सायं काल 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इसी प्रकार मन्त्र बोला जाता है अतः सायंकाल का मन्त्र गर्भाधान को सूचित करता है। प्रातःकाल 'सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' मन्त्र से गर्भित अग्नि का स्वरूप निर्देश करके 'ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा' मन्त्र बोला जाता है। इस

मन्त्र में ज्योतिः (रेतः) को सूर्य बाहर रखकर स्पष्ट कर दिया है कि यह वह अवस्था है जो प्रसव की होती है। सिञ्चन किया हुआ रेतः (वीर्य) पक कर, बच्चा बनकर प्रसव काल में गर्भाशय के बाहर आता है। इसलिए 'ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा' मन्त्र के स्वरूप से प्रातःकाल प्रसव काल है। गर्भाधान और प्रसव कर्मों में थम कर्म गर्भाधान होता है और उत्तर कर्म प्रसव होता है। इसलिए प्रथम कर्म सायंकाल का कर्म है और उत्तर कर्म प्रातःकाल का। अतः मनुष्य ने अपने जीवन में अग्निहोत्र का प्रथम ही आरम्भ करना हो तो सायं काल से करे प्रातःकाल से नहीं।

अग्न्याधान काल

अब तक इतना तो मालूम हुआ कि अग्निहोत्र आरम्भ करना हो तो पहला अग्निहोत्र सायंकाल करे। परन्तु अग्निहोत्र बिना अग्नि के नहीं होता। अग्नि का आधान करने के पश्चात् आहित अग्नि में अग्निहोत्र किया जाता है। एक बार अग्नि का आधान कर लिया जाता है और प्रति दिन उस आहित अग्नि में अग्निहोत्र किया जाता है। प्रति दिन अग्न्याधान करना तो ऐसा है जैसा प्रति दिन नई २ स्त्री को पत्नी बना २ कर घर में रखना। किसी स्त्री को पत्नी करके घर में रखना ऐसा है जैसा घर में आग को प्रज्वलित करके रखना। स्त्री वज्र (तलवार) के समान है। यदि तलवार को म्यान में सुरक्षित रखने के समान स्त्री को भी सुरक्षित रूप से उचित कर्तव्य और अधिकारों के साथ घर में रक्खा जाय तो वह समय पर अपनी रक्षा का साधन

होती है अपना सहारा होती है, परन्तु यदि उसे असुरक्षित रक्खा जाय तो वह रखने वाले का ही घातक हो जाती है। इसी प्रकार घर में अग्नि को प्रज्वलित करके आधान करना बड़ी जिम्मेवारी का काम है। असुरक्षित रूप से अग्नि रहेगी तो वह घर भर को फूंक डालेगी। सुरक्षित अग्नि में प्रति दिन अग्निहोत्र करता हुआ गृहपति व्रतपति अग्नि से व्रत ग्रहण किया करता है, कुसमय में अपने वीर्य को बाहर फेंकने से बचाता हुआ अपनी रक्षा में उद्यत रहता है। अपनी सुरक्षा के साधन अग्नि को प्रति दिन शान्त कर डालना (बुझा देना, मार डालना) उसकी अत्यन्त अपेक्षा है। इसलिए बड़े पवित्र भाव से एक खास नियत समय पर अग्न्याधान घर में कर लेना होता है, और प्रति दिन उस अग्नि में अग्निहोत्र करना होता है।

जिस अग्नि के चारों ओर परिक्रमा करके स्त्री पुरुष परस्पर गार्हस्थ्य धर्म का ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करते हैं, पति अपनी पत्नी को घर में लाते हुए, उस वैवाहिक अग्नि को साथ लावे। अपने घर में उस अग्नि की स्थापना करे। यदि प्रमाद से अग्नि बुझ जावे तो अरणि मन्थन करके अथवा अपने पुरोहित के घर से अग्नि लाकर स्थापन करे। इस प्रकार जिसने अग्नि स्थापन की हुई है वह मनुष्य आहिताग्नि कहलाता है। आहिताग्नि मनुष्य प्रतिदिन सायं प्रातः उस अग्नि में से आधान मन्त्र (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवी वरिम्णा तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे) द्वारा उचित स्थान पर अग्नि को रखता है, समिन्धन मन्त्रों के द्वारा उसका समिन्धन करता है; फिर उसकी रक्षा करता है, फिर सृष्ट्युत्पत्ति

के प्रधान देवताओं के लिये हवि देता है, फिर अग्निहोत्र के मुख्य मन्त्रों से अग्निहोत्र का स्वरूप निरूपण करता है, फिर सम्पूर्ण त्रिलोकी के स्वरूप का ध्यान करता है और पूर्णाहुति करके आग्निहोत्र समाप्त करता है।

मनुष्य आहिताग्नि होने के लिये किस समय अग्न्याधान करे इसके लिये विभिन्न मत हैं। मतों का वर्णन भिन्न २ नक्षत्रों का नाम लेकर किया गया है। पृथ्वी की परिक्रमा करता हुआ चन्द्रमा जिस २ नक्षत्र के सामने आता है उस दिन वही नक्षत्र कहलाता है। अग्न्याधान के लिये भिन्न २ नक्षत्र भिन्न २ दृष्टि से चुने गये हैं।

कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान करे। क्योंकि नक्षत्र प्रायः अनेक तारों के समूह हैं। किसी नक्षत्र में एक तारा, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चार। परन्तु कृत्तिका नक्षत्र में सब से अधिक तारे हैं। कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान करने से बहुत्व के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इसलिये कृत्तिका में अग्न्याधान करे। एक बात और भी है। कृत्तिका अग्नि नक्षत्र है। अग्नि का अग्नि नक्षत्र के साथ सम्बन्ध रहने में अनुकूलता है। इसलिये भी कृत्तिका में अग्न्याधान करे।

यदि कोई ऐसा कहे कि अग्न्याधान का सम्बन्ध मिथुन कर्म में है, जिस नक्षत्र में मिथुन भाव हो उसमें अग्न्याधान करना चाहिए, चूंकि कभी कृत्तिका नक्षत्र सप्तर्षियों के साथ रहते थे परन्तु अब उन्होंने सप्तर्षियों का साथ छोड़ दिया है। अतः ऐसे नक्षत्रों में अग्न्याधान करना जिनमें मिथुन भाव छूट चुका है स्वयं भी मिथुन भाव से वञ्चित रहकर अभागा

बनना है। अतः कृत्तिका में अग्न्याधान करना उचित नहीं है। परन्तु यदि कुछ गहराई के साथ विचार करें तो स्पष्ट पता लगता है कि कृत्तिका में मिथुन भाव बना ही रहता है। कारण यह है कि कृत्तिका का अग्नि तारा के साथ मिथुन भाव नहीं छूटता। इसलिये बेशक कृत्तिका में अग्न्याधान किया जा सकता है, कोई हर्ज नहीं है।

२. कोई कहते हैं रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करे। प्रजापति (Landlord जमीनदार, किसान, राजा) ने प्रजा की इच्छा से रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान किया था (बीज वपन किया था)। प्रजाओं को पैदा कर लिया। जितनी प्रजायें उत्पन्न हुईं उनकी शकलें भिन्न २ न थीं वे सब एक ही शकल की थीं, जैसी रोहिणी के तारे एक शकल के हैं अर्थात् उनकी चमक व रूप में फरक नहीं है। जो विद्वान् मनुष्य रोहिणी के इस रोहिणीपन को अच्छी तरह समझता है उनकी सन्तान और पशु बहुत होते हैं। पशु भी अग्न्याधान (गर्भाधान=बीज वपन) रोहिणी में ही करते थे कि जिससे वे मनुष्यों के पास रहते हुये खूब बढ़ें। सचमुच वे मनुष्यों के पास इस प्रकार मनुष्यों के सहारे पशु खूब बढ़ें और पशुओं के सहारे मनुष्य खूब बढ़ें। अतः प्रजा और पशुओं की वृद्धि की इच्छा हो तो रोहिणी में अग्न्याधान करे।

३. कोई कहते हैं मृगशीर्ष नक्षत्र में अग्न्याधान करे। आकाश में जिसे मृगशिरा नक्षत्र कहते हैं वह प्रजापति नक्षत्र कहलाता है। इसी के पास दाहिनी ओर एक लाल वर्ण का तारा

है जिसे प्रजापति का शिर कहते हैं। लुब्धक तारे ने प्रजापत्ति को बाण मार कर उसका शिर काट कर अलग डाल दिया है। यह वर्णन तारों का आलंकारिक है। उनका परस्पर सम्बन्ध बतलाकर केवल उनकी स्थिति याद कराने के लिए है। शरीर में शिर शरीर की श्री है। चार प्राण धड़ के दो बाहुओं के और एक पुच्छ का इस प्रकार सातों प्राण मिलकर शिर के अकेले प्राण को बना रहे हैं। इस प्रकार शिर का प्राण सात प्राणों से मिलकर बना है।

सप्त प्राणमयः शीर्षण्यः प्राणः।

सातों प्राणों का सार भाग लेकर शिर का प्राण बना होने से शिर सारे शरीर की श्री है। इस कारण शरीर के दो भागों में एक भाग शिर है और दूसरा भाग धड़ है। धड़ पर उसकी श्री के समान शिर लगा हुआ है। इसी कारण जो श्रेष्ठ भाग होता है उसे दूसरे हिस्से का शिर कहते हैं। इस कारण जो मनुष्य संसार में श्री को प्राप्त करना चाहता है उसे चाहिये कि प्रजापति के शिर को बतलाने वाला जो तारा है उस तारे में अर्थात् मृगशीर्ष नक्षत्र में अग्न्याधान (गर्भाधान) करे। इस से उसकी जो सन्तान होगी संसार में उसकी कीर्ति के द्वारा वह मनुष्य भी संसार में कीर्तिमान हो जावेगा।

कोई शङ्का करते हैं कि मृगशीर्ष प्रजापति का शरीर है जो कि बाण के लगने से मुर्दा, निर्वीर्य हो गया है यज्ञ का साधन नहीं रहा। इस कारण मृगशीर्ष में आधान न करे।

दूसरे इसका समाधान कहते हैं कि प्रजापति का कोई घर नहीं है कोई शरीर नही है इसलिये अयज्ञिय कहना ही गलत है। इस कारण प्रजापति नाम के नक्षत्र में अर्थात् मृगशीर्ष में बेशक आधान करे इसमें कोई दोष नहीं। प्रजापति नक्षत्र तो उस काल का सूचक है जिस काल में उसके सामने चन्द्रमा आता है। प्रजापति प्रजा का पति होने से सब देवों (शक्तियों) में श्रेष्ठ है—सब देवों की श्री है। चूंकि उस नक्षत्र में अग्न्याधान (गर्भाधान) करने से उत्पन्न सन्तान के द्वारा श्री की प्राप्ति होती है इसलिए उस नक्षत्र का नाम प्रजापति रख छोड़ा है। इस दृष्टि को रखकर जो मनुष्य प्रजापति के समान श्रीमान् अथवा श्रेष्ठ होना चाहता है उसे मृगशीर्ष में अग्न्याधान निस्संकोच करना चहिये।

४. पुनराधान करना हो तो पुनर्वसु नक्षत्र में आधान करे। गर्भस्थिति यदि ठीक नहीं और पुनराधान करने की आवश्यकता हो तो पुनर्वसु में करना उचित है क्योंकि पुनर्वसु का नाम ही इसलिए है कि जिसमें पुनःवसु अर्थात् निवास, स्थिति प्राप्त हो जावे।

५. कोई कहते हैं फल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान (गर्भाधान) करना उचित है। फल्गुनी का दूसरा नाम अर्जुनी है। अर्जुनी गुह्य नाम है। फल की दृष्टि से फल्गुनी नक्षत्र को इन्द्र नक्षत्र भी कह देते हैं। जो मनुष्य चाहता हो उसको सन्तान में अर्जन करने की अर्थात् कमाने की सामर्थ्य खूब हो और इससे वह सम्पत्ति का अर्जन करते २ परम ऐश्वर्यशाली इन्द्र बन जावे उसको चाहिए कि फल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करे। इसके

अतिरिक्त एक और भी बात है कि यज्ञ का देवता इन्द्र है। इन्द्र होने को लक्ष्य करके यज्ञ किये जाते हैं। यज्ञ करने वाला यजमान भी इन्द्र है। कोई साधारण छोटा मोटा आदमी यज्ञ नहीं कर सकता, उसके पास कुछ द्रव्य सम्पत्ति होनी चाहिए जिसका आश्रय लेकर वह यज्ञ कर सके अर्थात् यज्ञ करने वाले यजमान में इन्द्रपन होना चाहिए तभी वह यज्ञ कर सकता है यज्ञ करने का अधिकारी है। इसलिये यजमान इन्द्र नक्षत्र में अग्न्याधान करे इससे अच्छा अग्न्याधान का अवसर दूसरा कौन सा हो सकता है ? ऐसा करने से अग्न्याधान कर्म इन्द्र वाला हो जाता है। अतः फल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करे।

पूर्वा फल्गुनी में अग्न्याधान करने से सन्तान (सद्यः फलवान्) उन्नतिशील होती है, और उत्तरा फल्गुनी में अग्न्याधान करने से इसका आगे २ आने वाला कल हमेशा श्रेय को दिखाने वाला होता है।

६. कोई कहते हैं हस्त नक्षत्र में अग्न्याधान (गर्भाधान) करे। जो चाहता हो अपने को (अपनी सन्तान को) कुछ न कुछ दिया ही जाता रहे अर्थात् कुछ न कुछ मिलता ही रहे वह हस्त नक्षत्र में अग्न्याधान करे। हस्त नक्षत्र में अग्न्याधान का हस्त (हाथ) से कैसा अच्छा सम्बन्ध हो जाता है। जो कुछ हाथ से सन्मुख होकर दिया जाता है वह दिया ही जाता है। इसलिये यदि इच्छा हो कि कुछ न कुछ मिलता ही रहे तो हस्त नक्षत्र में अग्न्याधान करे।

७. कोई कहते हैं कि चित्रा नक्षत्र में अग्न्याधान (गर्भाधान) करे। चित्रा में अग्न्याधान करने का यह असर होता है कि जो सन्तान होती है वह अपने शत्रुओं के पराजय करने में अवश्य सफल होती है। यदि वे चाहें कि उनकी सन्तानें शत्रुओं को परास्त करने वाली बनें तो क्षत्रियों के लिये चित्रा में अग्न्याधान करना अधिक लाभप्रद है। इस विषय में एक प्राचीन दृष्टांत है—गुरुवर ब्रह्मा प्रजापति के शिष्यरूप से दो प्रकार के सन्तान थे एक देव और दूसरे असुर। शारीरिक और सामूहिक बल में असुर देवों से अधिक थे। देव अपने बुद्धि के बल (चातुर्य,) में असुरों से अधिक थे। ये दोनों आपस में लड़ते झगड़ते रहते थे। दोनों ने सोचा कि स्वर्ग का प्राप्त करें, अर्थात् अपने आपको शस्त्र अस्त्र सेना आदि के बलों से इस प्रकार सुसज्जित करें कि किसी को मुकाबला करने की हिम्मत ही न हो और इस प्रकार शान्ति बनी रहे और लड़ाई झगड़े का अन्त हो जाय। असुरों ने रोहिणी (सीढ़ी) के रूप में अग्नि का चयन किया कि इससे हम स्वर्गलोक पर चढ़ जावेंगे अर्थात् हमें कोई जीतने वाला न रहेगा, हम अजेय हो जावेंगे तो युद्ध ही मिट जावेगा और शान्ति हो जायेगी। असुरों ने सैनिकों (अग्नि) की भरती (चयन) शुरू कर दिया और अग्नि वर्षा करने वाले अस्त्रों से उन्हें सुसज्जित करके ऐसी व्यूह रचना की कि जिस व्यूह में सेना आगे २ बढ़ती ही चली जावे (रोहण ही रोहण करती जावे) किसी प्रकार से भी शत्रु उसे पीछे न हटा सके। यह सब कार्रवाई इन्द्र को पता चली, इन्द्र समझ गया—यदि इस

प्रकार ये तैयारी कर लेंगे तो अवश्य हमें मार डालेंगे। इसलिये इन्द्र ने ब्राह्मण का वेश भरा। अपने आपको ब्राह्मण कहता हुआ वहां पहुंचा। उसने उस रचना का काम अपने हाथ में ले लिया। स्वयं रचना करते हुए उसने उस रचना के मुख्य भाग को बिगाड़ डाला। मुख्य स्थान के आदमियों को फोड़ कर अपनी तरफ मिला लिया। इस थोड़े से प्रयत्न से ही असुरों का अग्नि (सेना निर्माण, व्यूह निर्माण) असंचित ही रह गया। इसके बाद उसने सोचा कि इस रचना में जो मेरा स्थान रखने वाला भाग है उसको भी मैं अपना कर लूं। उसके पास जाकर उसको भी उसने अपने कब्जे में कर लिया। उसके बिगड़ जाने पर सारी की सारी सेना (अग्नि) बिलकुल ढीली पड़ गई। सेना (अग्नि) के ढीले पड़ जाने पर असुरों के हौसले टूट गये। इन्द्र ने उन्हीं लोगों को तैयार करके असुरों की गर्दनें काट डालीं। देव इकट्ठे होकर कहने लगे कि हमें बड़ा आश्चर्य हुआ कि हमने इतने शत्रु कैसे मार डाले। इससे पता लगता है कि चित्रा नक्षत्र का बड़ा महत्व है। मनुष्य को पता नहीं लगता कि कैसे होता है, वह अपने शत्रुओं को और द्वेषियों को मारता चला जाता है। सचमुच जो क्षत्रिय विद्वान् चित्रा में अग्न्याधान करता है उसकी सन्तान शत्रुओं को बस मार ही डालती है और उसकी विजय ही विजय होती है।

८. अन्त में सिद्धान्त यह है कि जिन को नक्षत्र कहते हैं पहिले वे भिन्न २ प्रकार के सामर्थ्यों के पुञ्ज (क्षत्र) थे जैसे यह सूर्य है। परन्तु इस सूर्य ने उदय होते ही उनके क्षत्र को

(वीर्य वा सामर्थ्य को) हरण कर लिया। इनके क्षत्र का आदान कर लेने से ही इसका नाम आदित्य पड़ गया है। विद्वान् लोग बतलाते हैं कि पहिले जो वे क्षत्र थे अब वे क्षत्र नहीं रहे किन्तु नक्षत्र बन गये। इस कारण चूंकि सब नक्षत्रों का सामर्थ्य अकेले इस सूर्य में है अतः सूर्य नक्षत्र में ही अग्न्याधान करे। चूंकि सूर्य नक्षत्र पूर्ण है सब सामर्थ्य वाला है अतः यदि किसी को नक्षत्र विशेष में ही अग्न्याधान करना हो तो उस नक्षत्र पर जब सूर्य आ जावे तब उस नक्षत्र में अग्न्याधान करे।

अग्न्याधान का ऋतु से सम्बन्ध

एक संवत्सर के दो हिस्से हैं। जैसे एक मास के वा एक दिन के दो हिस्से होते हैं वैसे ही संवत्सर के दो हिस्से होते हैं। मास के दो हिस्सों में से एक में चन्द्रमा का प्रकाश उसकी एक एक कला की वृद्धि के अनुसार पृथ्वी पर बढ़ता जाता है। और दूसरे हिस्से में चन्द्रमा की एक-एक कला के क्षय के अनुसार उसका प्रकाश पृथ्वी पर कम होता जाता है। अहोरात्र में सूर्य के तेज वा चमक की कला मध्यरात्रि के पश्चात् सूर्य के क्रमशः एक एक कला ऊपर उठते हुये मध्याह्न तक पृथ्वी पर बढ़ती जाती है और मध्याह्न के पश्चात् मध्यरात्रि के आने तक एक-एक कला पर क्रमशः नीचे आते हुए सूर्य का तेज क्रमशः पृथ्वी पर कम होता जाता है। इसी प्रकार जब सबसे बड़ी रात होती है और दिन सबसे छोटा होता है तब सूर्य के दक्षिण की ओर परम क्रान्ति पर पहुंच जाने के पश्चात् एक-एक कला उत्तर की ओर बढ़ते हुए सूर्य का तेज पृथ्वी पर क्रमशः एक-एक कला तब

तक बढ़ता जाता है जब तक सूर्य उत्तर की ओर परम क्रांति पर नहीं पहुंच जाता। इसके पश्चात् सूर्य का तेज क्रमशः एक एक कला घटता जाता है जब तक सूर्य दक्षिण की ओर परम क्रांति पर नहीं पहुंच जाता। एक वर्ष में सूर्य के तेज के क्रमशः बढ़ते और घटने से वर्ष के दो हिस्से हो जाते हैं। एक हिस्से को उत्तरायण कहते हैं और दूसरे को दक्षिणायन। इन कालों में सूर्य तेज के अर्थात् अग्नि के क्रमशः बढ़ने घटने के कारण बाहर के तापांश बदलने से तीन ऋतुओं में प्राणियों के शरीरों में अग्नि की गति बहिर्मुख होती है और तीन ऋतुओं में अन्तर्मुख रहती है। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा ,इन तीन ऋतुओं में अग्नि की गति बहिर्मुख रहती है और शरद् हेमन्त शिशिर इन तीन ऋतुओं में अग्नि की गति अन्तर्मुख रहती है। अग्नि अपनी बहिर्मुख गति में शीत गुण प्रधान सोम को आक्रांत करता है, और अन्तर्मुख गति में शीत गुण प्रधान सोम से आक्रांत रहता है। सोम को आक्रान्त कर लेने से अग्नि सोम-गर्भित हो जाता है और सोम से आक्रान्त रहने से सोम अग्नि-गर्भित हो जाता है। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा काल में अग्नि सोम-गर्भित हो जाता है और शरद्, हेमन्त, शिशिर में सोम अग्नि-गर्भित हो जाता है। सोम-गर्भित अग्नि को देव प्राण कहते हैं और अग्नि-गर्भित सोम को पितृ प्राण कहते हैं। पितृ प्राण में अग्नि दबा रहता है उन्मुग्ध अवस्था में रहता है। देवप्राण में अग्नि दबा नहीं होता वह उद्बुद्ध अवस्था में रहता है। पितृ प्राणों के परस्पर घर्षण से उन्मुग्ध अग्नि उद्बुद्ध हो जाता है। अग्नि के उद्बुद्ध होते ही पितृप्राण देवप्राण में बदल जाता है।

जो विद्वान् पितृप्राण से देवप्राण और देवप्राण से पितृप्राण बनाना जानता है वह देवप्राण की आवश्यकता पड़ने पर देवप्राण बना लेता है और पितृप्राण की आवश्यकता पड़ने पर पितृप्राण बना लेता है। पितृप्राण के संचय से देह में वृद्धि होती है, क्षीणता दूर होती है और देवप्राण के सचय से ज्ञान की वृद्धि होती है, बुद्धि मान्द्य दूर होता है। इस प्रकार देवप्राण और पितृप्राण की नेचर—प्रकृति वा स्वभाव—को समझने से स्पष्ट प्रकट होता है कि उत्तरायण में देवप्राण प्रबल रहते हैं। तथा दक्षिणायन में पितृप्राण प्रबल रहते हैं। देवप्राण में विद्यमान अग्नि अमृत है क्योंकि बहिर्मुख होने से आवरणकारक सोम से घिरा न होने से मृत नहीं है, इसलिये देव (देवप्राण) अमृत हैं और पितृप्राण में विद्यमान अग्नि मृत है क्योंकि अन्तर्मुख होने से आवरणकारक सोम से घिरा होने से मृत है इसलिये पितर (पितृप्राण) मर्त्य हैं। देव रूप में विद्यमान अग्नि वसन्त में सञ्चित अर्थात् बसा हुआ होने से ब्राह्मण को चाहिए वसन्त में अग्न्याधान (गर्भाधान) करे। इस प्रकार ब्राह्मण की जो सन्तान होगी उसमें भी अग्नि के विशेष रूप में सञ्चित होने से वह विशेष रूप से ज्ञान की वृद्धि में रुचि रखने वाली होगी, ब्रह्मवर्चसी होगी। इस प्रकार जो भी मनुष्य अपनी सन्तान ब्रह्मवर्चसी बनाना चाहता है उसे चाहिए कि वह वसन्त में अग्न्याधान करे। परन्तु जो मनुष्य चाहता है कि उसकी सन्तान श्री और यश को चाहने वाली और उससे युक्त हो उसे चाहिए कि वह ग्रीष्म ऋतु में अग्न्याधान करे। ग्रीष्म ऋतु में देव अग्नि का चारों ओर खूब प्रसार रहता है। जैसे ग्रीष्म ऋतु

में अग्नि का चारों ओर प्रसार रहता है वैसे ग्रीष्म ऋतु में अग्न्याधान से उस उत्पन्न हुई सन्तान का भी यश चारों ओर फैलता है और उससे उसे श्री लाभ होता है। यश यह भी अग्नि के प्रसार का ही रूप है। इसलिये क्षत्रिय और जो भी मनुष्य अपनी सन्तान में यश और श्री को चाहे वह ग्रीष्म में अग्न्याधान करे। फैलता हुआ अग्नि अन्तरिक्ष में अत्यधिक संचित हो जाने से परस्पर संघात होकर गिरने लगता है। इस प्रकार अग्नि की नानारूपता को ध्यान में रख कर जो मनुष्य वर्षा में अग्न्याधान करता है उसकी सन्तान बहुत सन्तान वाली और बहुत पशु धन वाली होती है। इसलिये जो चाहे उसकी सन्तान ऐसी हो उसे चाहिए वर्षा ऋतु में अग्न्याधान करे। वस्तुतः देखा जाय तो दोनों ही ऋतु, चाहे उत्तरायण की हों और चाहे दक्षिणायन की, निर्दोष हैं। सूर्य दोनों ही ऋतुओं में है जो इन दोनों के दोषों को हर लेता है। उदय होते ही यह ऋतु के दोष को दूर कर देता है। इसलिये जब भी यज्ञ करने के लिये दिल में आवे तब ही अग्नि का आधान कर दे। कल २ की बाट न देखता रहे। कौन जानता है कल मनुष्य का क्या होना है। इसलिये ऋतुओं के विशेष २ प्रभाव को ध्यान में रखते हुए जब भी अनुकूल अवसर प्राप्त करें तब ही अग्न्याधान कर सकता है।

अग्न्याधान के लिये जमीन की तैयारी

अग्न्याधान (गर्भाधान) करना एक नया घर बसाना है। घर कहां बसाना चाहिए उसके लिये उपयुक्त जमीन कैसी होनी चाहिए, किन २ द्रव्यों से सम्पन्न जमीन होनी चाहिये यह भी

एक विचारणीय विषय है। जिस जमीन पर रहना हो उस जमीन पर पानी का प्रबन्ध अच्छा होना चाहिये। बिना पानी के जीवन निर्वाह कठिन है। बिना पानी के अन्न भी उत्पन्न नहीं हो सकता जिसको खा कर जीवन निर्वाह कर सकें। अन्न का पानी के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि पानी को ही अन्न कह देने में कोई अत्युक्ति नहीं है। पानी की विशेषता के अतिरिक्त दूसरी विशेषता उस जमीन की यह है कि उस जमीन में खार हो। खार यह द्यु का रस है, सूर्य की किरणों के द्वारा तथा जल की सूक्ष्म वाष्प के साथ मिल २ कर वर्षा और ओस के द्वारा पृथिवी में जज्ब होता रहता है। जिस जमीन में खार पर्याप्त होता है वहां पशु खुश रहते हैं मौज करते हैं वृद्धि पाते हैं। इसलिये पशुओं की दृष्टि से उस जमीन में खार अवश्य होना चाहिये। तीसरी विशेषता उस जमीन की यह होनी चाहिए कि उस जमीन में लोहा, रांगा, तांबा, चांदी, सोना आदि ऊंची धातुओं के सौल्ट पाये जावें। सोने का पाया जाना जीवन के लिये बहुत ही गुणकारी है। घनीभूत शुद्ध आपः के अन्दर अग्नि की ज्योति के अत्यधिक मात्रा में बैठ जाने से कुदरत में सोना तैयार होता है। आपः और अग्नि के सम्बन्ध से सोना तैयार होने से यह प्रायः जलीय स्थानों में पाया जाता है। जिस मिट्टी के अन्दर सोना सूक्ष्म रूप से रहेगा उस मिट्टी में उत्पन्न होने वाले अन्न में भी वह सूक्ष्म रूप में आ जावेगा। ऐसे अन्न के सेवन करने से अवश्य ही जीवन को विशेष लाभ होगा, क्योंकि सोना हृदय के लिये बहुत ही मुफ़ीद है, क्षय आदि भयानक रोगों का सर्वोत्तम इलाज है, जीवनीय है, आयुष्य है। चौथी विशेषता उस जमीन

की यह है कि उस जमीन में मोटे २ चूहों के बिल हों। चूहे पृथ्वी के उस रस को पहिचानते हैं जिसके सेवन करने से शरीर मजबूत और हृष्ट-पुष्ट हो जाता है। जिस जमीन में पृथ्वी का यह रस विशेष होता है उसमें चूहे बड़े २ बिल बना कर अन्दर घुसते चले जाते हैं और मिट्टी में से उस रस को चाटते रहते हैं। बहुत सी मिट्टी अन्दर से खाद २ करके बाहिर डाल देते हैं। ऐसी जमीन में उत्पन्न हुआ अन्न पृथ्वी के उस रस से भरपूर होगा जो शरीर को मजबूत और हृष्ट-पुष्ट बनाता है। वह अन्न शरीर के लिये विशेष उपयोगी होगा।

जमीन न तो अत्यधिक भुरभुरी होनी चाहिए और न अत्यधिक ठोस। अत्यधिक पिलपिली और भुरभुरी होने से पौधों की जड़ें मजबूती से जमीन को न पकड़ेंगी, पौधे गिर २ पड़ेंगे। अत्यधिक ठोस होने से पौधों की जड़ें जमीन में जमेंगी ही नहीं, अपना रास्ता न निकाल सकेंगी। अतः इस दोष को दूर करने के लिये जमीन में शर्करा (छोटी बजरी) मिला देनी चाहिए। बजरी से जमीन का पिलपिलापन और ठोसपन दोनों दूर हो जावेंगे। जमीन में अन्न ठीक २ पैदा हो जावेगा।

जिस जमीन में इस प्रकार की सम्पत्ति न हो और वहां बसना ही पड़े उस जमीन में दूसरे स्थानों से ये सब मिट्टियां लाकर डालें। अपने निर्वाह के लिये जमीन तैयार हो जाने पर फिर उस पर बसे और खेती करे। जो जमीन गन्दी हो, जहां घास, फूस, झाड़ झंखाड़ बहुत हो उसको इतना खुदवा दे कि घास, फूंस आदि पौधों की जड़ें निकल जाने से वह साफ हो जाय। यदि ऐसा न किया जायगा तो अन्न को जितना रस प्राप्त होना आवश्यक

होगा वह उसे न प्राप्त होगा। अन्य पौधे उस रस को खींच लेंगे जो हमारे उपयोग में नहीं आते। इस प्रकार जमीन को पूरी तरह से तैयार करे, संस्कृत करे। जमीन में से अनावश्यक और हानिकारक विघ्न स्वरूप पदार्थों को निकाल डाले। ऐसी तैयार भूमि में मनुष्य बसेगा, अपना घर बनावेगा अर्थात् अग्न्याधान करेगा तो सचमुच उसका योगक्षेम ठीक प्रकार से चलता रहेगा।

घर बनाने के लिये नींव खोद कर जमीन तैयार करनी हो तो भी इसी प्रकार तैयार करनी चाहिए। विवाहित पुरुष जिस जमीन पर स्थिर रूप से अग्नि का स्थापन करे वह स्थान भी इसी मसाले से अच्छा पक्का बना होना चाहिए, ढीला ढाला बना हुआ न हो। इस प्रकार जल, हिरण्य, खार चूहों की मिट्टी और बारीक बजरी इनको मिला कर जमीन तैयार करके यज्ञ के लिये जमीन को भी यज्ञरूप बनाया जाता है। प्रत्येक कार्य में यज्ञभावना बनी रहने से कार्यों में पवित्रता और सौन्दर्य आ जाता है। इस प्रकार भूमि तैयार हो जाने पर उस पर अग्न्याधान करे।

यज्ञभावना से भावित होकर इस प्रकार की भूमि तैयार होने पर उसके अन्न को सेवन करके जो बालक तैयार होंगे और जो स्त्री और पुरुष तैयार होंगे वे सचमुच उस अग्नि को ग्रहण कर सकेंगे या उनके हृदयों में भी वह अग्नि प्रज्वलित हो सकेगी जिसकी तीव्रता से देश व जाति का कोई कार्य सम्पन्न हो सकेगा, किसी कार्य के करने में कभी पीछे न हटने वाली मण्डली इसी प्रकार तैयार हो सकेगी। अग्निहोत्र वह पवित्र

कर्म है जिसके द्वारा एक मनुष्य अपने दिल की आग दूसरे दिलों में फूंकता है। ऐसे दिल तैयार करना जिनमें अपने दिल की आग लग सके यह अग्निहोत्र के लिये जमीन तैयार करना है।

अग्न्याधान के पूर्व व्रतचर्या

कई विद्वानों का ऐसा ख़याल है कि जिस दिन अग्न्याधान करना हो उससे पहिले दिन भोजन न करे, उपवास रक्खे। देव (उत्तम वृत्तियां) जब तक यज्ञ में भाग न ले लें और अपने आपको तृप्त न कर लें तब तक उनकी अवहेलना करके स्वयं अन्न ग्रहण करना अनुचित है, अतः दिन में तो भोजन करले परन्तु रात को भोजन न करे। वस्तुतः देखा जाय तो जब तक मनुष्य आहिताग्नि नहीं होता तब तक वह एक सामान्य मनुष्य के समान है। सामान्य मनुष्य के लिये कोई जिम्मेंवारी (व्रत-चर्या) नहीं है। अतः सामान्य मनुष्य के रूप में वह बेशक रात को भोजन कर सकता है इसमें कोई दोष नहीं है। ऐसे सामान्य मनुष्य के लिये उपवास का कुछ नियम नहीं है।

कई लोग ऐसे मौके पर बकरे को बांध छोड़ते हैं। वे समझते हैं कि बकरा चूंकि आग्नेय प्राणी है, अतः आग्नेय प्राणी के पास बंधे रहने से अग्नि के स्वरूप में किसी प्रकार की कमी न आवेगी, अग्नि का स्वरूप पूर्ण रहेगा। परन्तु ऐसा करने की भी कुछ आवश्यकता नहीं है। अग्नि के स्वरूप को पूर्ण तो अग्नीध् (आग जलाने वाले) ने करना है अतः बकरा बांधने की कुछ आवश्यकता नहीं है। हां यदि बकरा हो तो उसे

अग्नीध् को दे दे। बस! उसको देने से ही सब मतलब पूरा हो जावेगा।

कई लोग चातुष्प्राश्य ओदन पकाया करते हैं। इतना भात जिसे चार जने खा सकें। भात खिला कर वे समझते हैं कि यज्ञ के भिन्न २ विभागों में काम करने वाले अच्छी प्रकार कार्य करेंगे और यज्ञ सफल हो जायगा—यज्ञ का गाड़ी अपने निर्दिष्ट स्थान पर सुरक्षित पहुंच जावेगी। ऐसा करने को भी कुछ आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आहिताग्नि बनने वाले मनुष्य के घर में जो ब्राह्मण रहते हैं चाहे वे ऋत्विक् हों और चाहे ऋत्विक न हों उनकी निगरानी से ही सब काम सफल हो जावेगा। अतः खास तौर पर चातुष्प्राश्य ओदन पका कर कार्यकर्ताओं को खिलाने की कुछ आवश्यकता नहीं है।

कई लोग चातुष्प्राश्य ओदन में घी डाल कर पीपल की तीन समिधायें घी में भिगोकर समिध् और घृत शब्द वाली ऋचाओं को बोलते हुए उस ओदन में रखते हैं। वे समझते हैं कि ओदन को शमीगर्भ बना रहे हैं अर्थात् उसके पेट में अग्नि रख रहे हैं। ऐसे अग्निगर्भित भात को खा कर मनुष्य भी अग्निमान् हो जाता है। परन्तु ऐसा करना भी व्यर्थ है, क्योंकि संवत्सर के शुरू में जो अग्न्याधान करता है उसको वही फल प्राप्त होता है। संवत्सर के शुरू में कुदरत से ही पदार्थों में अग्न्याधान हुआ करता है। उस अग्न्याधान से स्वयं ही पदार्थ अग्निगर्भित हो जाते हैं, अतः चातुष्प्राश्य को समिधा रख कर अग्निगर्भ करना व्यर्थ है, ऐसा न करें।

इस विषय में भाल्लवेय कहते हैं कि इस मौके पर चातुष्प्राश्य ओदन पकाना बड़ा भारी अपराध है। चातुष्प्राश्य ओदन पकाना ऐसी ही बात है जैसे कोई करना कुछ चाहता हो करने कुछ और लगे, बोलना कुछ हो बोलने कुछ लगे, जाना किसी रास्ते हो चलने किसी और ही रास्ते पर लगे। क्योंकि यह बात ठीक नहीं है कि जिस अग्नि में ऋचा से, साम से, यजुः से समिधाधान करे वा हवन करे उसको किसी मामूली से काम के लिये (चातुष्प्राश्य ओदन पकाने के लिये) दक्षिण की ओर ले जावे अर्थात् मुख्य स्थान से हटा दे वा उसको पीछे २ चलावे, क्योंकि ऐसा करने वाले जिससे जो काम लेना चाहिए उससे वह काम न लेकर ओदन पकाने जैसा साधारण सा काम लेने लग जाते हैं अथवा उसको एक नौकर के समान पीछे २ चलाते हैं। चूंकि संसार में जो जिस कार्य के योग्य हो उससे वही कार्य लेना चाहिए इस नियम से ठीक व्यवस्था बनी रहती है। अतः बड़ी सावधानी से योग्य से योग्य कार्य लेवे अयोग्य नहीं। इसी को इस प्रकार सिखाया जाता है कि जिस अग्नि में समिधाधान करना हो वा हवन करना हो उस अग्नि में चातुष्प्राश्य ओदन आदि पकाने का काम न करे। जिस मनुष्य के हृदय में किसी कार्य विशेष को पूरा करने के लिये अग्नि जल रहा है तीव्र लगन लगी है उस मनुष्य को अन्य ऐसे कार्यों में फंसा देना, जिन कार्यों की ओर उसका झुकाव नहीं है, बड़ा अनुचित है। ऐसा करने से वह मनुष्य उन कार्यों को तो कर ही न सकेगा प्रत्युत उस कार्य से भी हाथ धो बैठेगा जिस कार्य के करने के लिये उसके हृदय में तीव्र लगन लगी है। संसार में चूंकि

मनुष्यों की योजना ठीक २ नहीं हो रही है। इसी से सांसारिक मनुष्यों की ज़िन्दगी अशान्त है, बेचैन है। अतः संसार में अशान्ति को दूर करने के लिये और जीवन को सुखी बनाने के लिये मनुष्यों को चाहिए कि जिस कार्य के लिये जो योग्य हो उसको उसी कार्य में नियुक्त किया करें।

कई कहते हैं कि जिस रात अग्न्याधान करना हो उसकी पहिली रात को जागरण करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य जागता रहे तो देव भी जागते रहते हैं। ऐसा करने से वह मनुष्य उत्कृष्ट देव, कर्मशील और तपस्वी बन कर अग्न्याधान करता है। इस विषय में भी वही कहना है कि बेशक सो जावे, जागने का व्रत करने का कुछ कर्तव्य नहीं है। जब तक आहिताग्नि नहीं बन जाता तब तक तो सामान्य मनुष्यों जैसा है। सामान्य मनुष्य के लिये व्रत सम्बन्धी कोई बन्धन नहीं है। ऐसे बन्धन तो आहिताग्नि मनुष्य के लिये हैं अर्थात् उस मनुष्य के लिये हैं जिसके हृदय में जीवन में किसी ख़ास काम को कर डालने की अग्नि जल रही है। यदि ऐसी अग्नि नहीं जल रही अर्थात हृदय में अग्नि का आधान नहीं किया गया तो मनुष्य बिलकुल एक सामान्य मनुष्य के सामने है। अतः अनाहिताग्नि के लिये व्रतचर्या नहीं है। अब आगे बतलाया जायगा कि आहिताग्नि हो जाने से क्या विशेषता हो जाती है।

आहिताग्नि की विशेषता

प्रजापति ब्रह्मा की दो प्रकार की सन्तान थीं— एक देव और दूसरे असुर। सृष्टि में मनुष्य दो प्रकार के उत्पन्न होते हैं।

एक प्रकार के मनुष्य वे उत्पन्न होते हैं जो अपनी आत्मा की शक्तियों को बढ़ाते है, प्रकृति को आत्मा की शक्तियों के पहिचान का सहायक बनाते हैं। इस प्रकार वे आत्मा के अमरत्व और पूर्णता को पहिचान कर आनन्द का अनुभव करते हैं। इस प्रकार के मनुष्य देव कहलाते हैं। दूसरी प्रकार के मनुष्य वे हैं जो प्राकृतिक सामग्री को इकट्ठा करने में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति का व्यय करते हैं। वे समझते हैं जितना ही अधिक प्राकृतिक सामग्री का संचय वे कर लेंगे उतना ही अधिक वे आनन्द में रहेंगे और पूर्ण हो जावेंगे। पहिले प्रकार के लोग देव कहलाते हैं और दूसरे प्रकार के असुर। देव आत्मान्मुख होते हैं और असुर अनात्मोन्मुख। देव आत्मदृष्टि हैं और असुर अनात्मदृष्टि। देव त्यागवृत्ति हैं, असुर भोगवृत्ति। देव शान्त हैं, असुर लड़ाके। इस प्रकार देव और असुर विपरीत स्वभाव के होने के कारण हमेशा आपस में झगड़ा करते हैं।

एक बार दोनों झगड़ने लगे। दोनों ही अपने को अनात्मा समझते थे। अनात्मा का अर्थ है मर्त्य अर्थात् मरणधर्मा मनुष्य। दोनों ही अपने को मर्त्य समझते हुए भी अपने में अमृतभाव भी समझते थे। उस अमृतभाव का नाम अग्नि है। दोनों ही समझते थे कि वे उस अग्नि के आश्रय से जी रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य जिस भाव विशेष को लेकर अपना प्रयत्न करता रहता है, उसका वह भाव विशेष ही उसका अग्नि कहलाता है। जिसके अन्दर हृदय में कोई अग्नि जल रहा है वह मनुष्य द्विज है और जिसके अन्दर कोई अग्नि नहीं जल रहा है जिसके हृदय का अग्नि बुझा

दिया जाता है वह शूद्र है हमेशा पराधीन रहने वाला है; स्वतन्त्रता उसके पास नहीं है, स्वतन्त्रता से वह बहुत दूर है। देव और असुर इसी प्रकार का प्रयत्न किया करते थे। इनमें से जो किसी की अग्नि को बुझा देता था उसे वह अपने में मिला लेता था। शुद्धि की इसी कशमकश में देव थोड़े से रह गये। देव सोच में पड़ गये और श्रम करने लगे कि किस प्रकार हम इन असुरों को नीचा दिखावें। देवों ने एक तरकीब ढूंढ निकाली कि अग्न्याधान ही हमारा बचाव है। उन्होंने संगठित होकर अपने आत्मा में अग्नि का आधान किया। देव जुदा २ हो रहे थे अब आत्मिकता के अग्नि के लिये एक हो गये। संसार में शान्ति आत्मिकता की आग को जगाने से हो सकती है। असुरों की माया ने संसार को चक्कर में डाल रक्खा है—परेशान कर रक्खा है। देव लोग आत्मिकता के झण्डे के नीचे इकट्ठे होकर एक हो गये और अपनी रक्षा की। सांसारिक पदार्थों के प्रलोभनों में फंसने से अपने आपको रोक लिया और असुरों के काबू से बाहिर हो गये। देव कहने लगे कि अग्नि तो हम दोनों में ही है चलो, असुरों से हम इस बात को कहें। देव असुरों से कहने लगे हम तो अग्नियों का आधान करेंगे, मुर्दा दिलों को जिन्दा बनावेंगे, ऐसे केन्द्र कायम करेंगे जहां शिक्षा ग्रहण करके प्रेम आदि आत्मिक गुणों की उन्नति की भावनाओं से भावित होकर जाति के बालक चेतन हो जावेंगे, भला! तुम क्या करोगे? असुरों ने जवाब दिया कि हम तो अग्नि का निधान ही करेंगे, क्योंकि तुम्हारे तो हवाई किले हैं, दूर की बातें हैं, जिनके होने न होने की कोई आशा नहीं। अग्नि का प्रत्यक्ष फल तो संसार

में उससे जीवन के लिये कुछ काम लेने में हैं, अतः हम तो निधान ही करेंगे। अग्नि की बड़ी २ निधि बना कर संसार में बड़ा २ कार्य हो सकता है जो लोगों की कल्पना से भी बाहिर है। कोयलों के बड़े २ स्टोर, बारूद के बड़े २ बारूदखाने, तोपखाने, मशीनगनें, बौम्ब पटाखे, पैट्रोल, और कैरोसीन औयल के बड़े २ टैंक, विषैली गैसें, लड़ाई के हवाई और जलीय जहाज़, युद्ध की सम्पूर्ण सामग्री ये सब अग्नि के विविध रूप हैं जो अग्नि के महत्व को प्रकट करते हैं अग्नि को साक्षात् मूर्तिमान् सामने खड़ा कर देते हैं। अतः हम तो अग्नि का निधान ही करेंगे अर्थात् उसकी बड़ी २ निधि बनावेंगे। अग्नि हमारे कब्जे में होगा हम हुक्म देंगे यहां तिनकों के ढेर को (गरीबों की झोपड़ियों को) भस्म कर दे, यहां लकड़ियों को (जङ्गलों को) आग लगा दे, यहां भात पका, यहां मांस पका इत्यादि। असुरों ने जो अग्नि की निधि का रिवाज चलाया है उसी के कारण मनुष्य खाते पकाते तथा अग्नि के अनेक बड़े २ काम करते हैं।

अग्नि के केवल इस प्रकार के बाह्य प्रयोगों के अवलम्बन पर लोगों में परस्पर अविश्वास, वैमनस्य, कलह, दूसरों का हर तरह से नुकसान करने की वृत्ति, खुदगर्ज़ी आदि विकार स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। संसार में अशान्ति फैलती है, दूसरों को मार डालने, भस्म कर डालने, तहस-नहस कर डालने के साधन बढ़ने लगते हैं। संसार में किसी को कोई अपना नहीं दीखता। सब एक दूसरे को खाने और हड़प करने वाले राक्षस दीखते हैं। प्रेम, दया, कृपा, मुहब्बत, त्याग, मेल जैसे उच्चभावों का तो सर्वत्र अभाव सा दीखता है। इस विचार से देवों ने

अग्नि का आत्मा में आधान किया। संसार की रक्षा व संसार में शान्ति के लिये देवों ने अपने आपको संगठित किया, त्याग के लिये वे तुल गये, प्रकृतिवाद के आधार पर बाहर से शक्तिशाली और अन्दर से छिन्नभिन्न हुए—खोखले हुए—असुरों पर उन्होंने विजय पाई, असुरों का अभिभव हुआ, पराजय हुआ। इसलिये जहां आहिताग्नि और अनाहिताग्नि लोगों में—असूल वाले और बे असूले लोगों में—भिड़न्त होती है वहां अन्त को आहिताग्नि लोगों की ही विजय होती है, क्योंकि वे लोग एक असूल पर कायम होने से अजेय होते हैं, अमर होते हैं, असूल पर कायम रहना यह उनका जीवन होता है। वे कभी पीछे नहीं हटते अतः विजयी होते हैं। जो मनुष्य संसार में विजयी होना चाहें वे आहिताग्नि बनें। जगत् के आधार आत्मा की अग्नि को प्रज्वलित करके शान्ति की वेदि पर अपने आपको बलिदान करें।

अग्न्याधान के फल

वरुणो हैनद्राज्यकाम आदधे। स राज्यमगच्छत्। तस्माद्यश्च वेद यश्च न 'वरुणो राजा' इत्येवाहुः। सोमो यशस्कामः (आदधे)। स यशोऽभवत्। तस्माद्यश्च सोमे लभते यश्चनोभावेवागच्छतो यश एवैतद्द्रष्टुमागच्छन्ति। यशो ह भवति, राज्यं गच्छति य एवं विद्वानाधत्ते ॥

श० ब्रा० २. २, ३. १ ॥

अग्न्याधान कोई मामूली सी बात नहीं हैं। वेदि (छोटा सा चबूतरा) बना कर उस पर आग रख देना मात्र अग्न्याधान

नहीं है। आग रख कर उसमें दूध की घी की वा अन्य सामग्री की आहुतियां डाल देना मात्र अग्निहोत्र भी नहीं है। क्योंकि इतना करने से राज्य नहीं मिल जाता, मनुष्य राजा नहीं बन सकता। वरुण ने तो अग्न्याधान करके राज्य प्राप्त किया था और हर एक आदमी ने इस बात को माना था कि वरुण राजा है, चाहे उस आदमी ने वरुण के दर्शन किये थे वा नहीं।

इसी प्रकार सोम ने यश की कामना से अग्नि का आधान किया था। वह यशस्वी हुआ जैसे राजा हो जाने पर मनुष्य को वरुण कहा जाता है--उसे वरुण का खिताब मिलता है—क्योंकि वरुण ने बड़ी मेहनत से राज्य प्राप्ति के लिये अग्न्याधान किया था वह अपनी कामना की पूर्ति में सफल हुआ था—राजा कहलाया था, वैसे जो मनुष्य राज्य कामना की तीव्र आग को धारण करता है—कबूल करता है प्रभुत्व की जिम्मेवारी को स्वीकार करता है, वह मनुष्य प्रभुत्व के झण्डे के नीचे इकट्ठे हुए मनुष्यों में स्वतन्त्रता की आग फूंक देता है उनमें स्वतन्त्रता की अग्नि का आधान कर देता है। वे मनुष्य स्वतन्त्रता के झण्डे को फहराते हुए अपने अग्रणी को—स्वतन्त्रता की आग में चढ़े हुए अपने नेता को—एक स्वर से पुकार कर कहते हैं 'वरुणो राजा' वरुण हमारा राजा है। अपनी मूर्खता से आप पहनी हुई पराधीनता की बेड़ियों को उतार फेंकने के लिये और स्वतन्त्रता की अग्नि की लपटों में बलिदान के लिये दीक्षित हो कर अपनी २ हविः डालने को हमें वरण करने वाला वरुण हमारा राजा है।

किसी समय पराधीन देश में किसी मनुष्य ने स्वतन्त्रता की प्रचण्ड अग्नि से अपने हृदय को प्रदीप्त किया था। उसके हृदय से स्वराज्य की चिनगारियां निकलती थीं। वह चाहता था देश में हमारा अपना राज्य कायम हो। राज्य की कामना से उसने लोगों को विलासिता के पराधीन जीवन से मुक्त किया अपने हृदय में जलती हुई स्वतन्त्रता युद्ध की तीव्र आग की चिनगारियों से उसने लोगों के हृदयों को चमका दिया। स्वतन्त्रता की आग का अपने हृदयों में आधान करते हुए—अपने ऐश आराम को कुर्बान करके एकमात्र स्वतन्त्रता प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाते हुए—लोगों का वरण हुआ। स्वतन्त्रता-यज्ञ में अपनी हविः डालने के लिये दीक्षित लोग अपने नेता के सामने वरुण २ के नारे लगाते मैदान में उतर पड़े। 'वरुणो राजा' की पुकार मची और स्वराज्य की प्राप्ति हुई।

इसके अतिरिक्त सोम ने यश की इच्छा से अग्न्याधान किया और उसे यश प्राप्त हुआ। आज जिसे यश प्राप्त हो जाता है उसे लोग सोम नाम से पुकारने लगते हैं—उसे सोम का खिताब देते हैं। यशस्वी मनुष्य का वास लोगों के दिलों में देखा जाता है। जिस मनुष्य ने लोगों के दिलों को जीत लिया वह सचमुच यशस्वी हुआ। लोगों के दिलों को जीतना तलवार के ज़ोर से नहीं होता, घृणा और क्रूरता के बल पर नहीं हो सकता। किसी के हृदय पर विजय प्राप्त करने के लिये अपने आपको दूसरे के लिये कुरबान कर देना होता है। जिस मनुष्य ने अपनी जिन्दगी का लक्ष्य दूसरों के दुःखों को दूर करना बना लिया है, जो मनुष्य स्वयं कष्ट में रहता हुआ भी दूसरे की

सहायता इसलिये नहीं लेता कि उसे कष्ट न हो वह मनुष्य सचमुच दूसरे के हृदय को जीत लेता है। दिल का प्रेम दिल को खींचता है। दूसरे को कष्ट न देना इतने में ही प्रेम नहीं है किन्तु अपने को कष्ट होते हुए भी उसकी परवाह न कर दूसरे के कष्ट निवारण के लिये दुःख की अग्नि में कूद पड़ना सच्चे प्रेम की पहिचान है। इसीलिये माता प्रेम की मूर्ति है साक्षात् सोम की प्रतिमा है। माता को जो स्थान मनुष्य समाज के दिलों में प्राप्त है वह और किसी को प्राप्त नहीं है। उसे अपना कष्ट कष्ट नहीं दीखता बालक का कष्ट बड़ा भारी कष्ट दीखता है। माता साक्षात् यश है—यश की मूर्ति है।

संसार में लोग लड़ रहे हैं, झगड़ रहे हैं चञ्चल माया प्रकृति के रूपों के पीछे कुत्तों की तरह लपक रहे हैं एक दूसरे को काट खाने को, फाड़ डालने को पड़ रहे हैं। धर्म के नाम पर हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, जैन, यहूदी, पारसी इत्यादि नामों को लेकर जत्थे बनाये जाते हैं, लड़ाई के लिये धार्मिक मोर्चेबन्दी की जाती है। धार्मिक शिक्षा के प्रचार के लिये प्रयत्न किया जाता है, जितना २ अधिक प्रचार होता है उतना ही अधिक वैमनस्य बढ़ता है। इस सब का कारण एक है कि धर्म के असली स्वरूप प्रेम की शिक्षा नहीं दी जाती। धार्मिक शिक्षा में हम सब आपस में किस प्रकार भिन्न हैं—मुख़्तलिफ़ हैं—यही सिखाया जाता है, हम किस प्रकार एक हैं यह मुश्किल से ही कहीं सिखाया जाता है। किसी से पूछो कोई नहीं कहता कि वह अधर्म सिखाता है सब कहते हैं कि हम धर्म सिखाते हैं,

परन्तु परिणाम इस सम्पूर्ण धार्मिक शिक्षा का है—लड़ाई, झगड़ा और अशान्ति।

इस अशान्ति को देख कर सोम कहता है कि तुम सब यश ही तो चाहते हो इसीलिये लड़ते झगड़ते हो। यदि यश चाहते हो तो दूसरों की कदर करो, बेकदरी किसी की मत करो। संसार में सर्वत्र अच्छाई नज़र आने लगेगी वा तुम्हारी निगाहों में अच्छाई समा जावेगी तो तुम्हारा कलह मिट जावेगा सब झगड़े निपट जावेंगे।

सोम कहता है जब तुम एक दूसरे को नमस्कार करते हो, नमस्ते वा रामराम कहते हो, गुडमौनिङ्ग वा आदाबर्ज कहते हो, सलाम वा सत श्री अकाल कहते हो इससे तुम उस आदमी की कदर नहीं करते किन्तु उस दिव्य भाव की कदर करते हो जो सबके हृदयों में व्यापक है जिसके कारण कोई मनुष्य कदरदान होता है मान का पात्र होता है। उस ईश्वर का, खुदा का, अल्लाह का वा गौड का ही तो नूर तुम्हारे सबके हृयय में है जिसको तुम सबके हृदयों में देखा करते हो और उसके आगे सिर झुकाया करते हो। किसी का आदर करने से ईश्वर का आदर होता है और किसी का अनादर करने से, किसी को गाली देने से वा बुरा कहने से ईश्वर का ही अनादर होता है, उसी को गाली जाती है और बुरा वा घृणित ठहरता है। जो मनुष्य यश चाहता है उसे सर्वत्र परमात्मा का दर्शन करना चाहिए किसी को बुरी निगाह से न देखना चाहिए। सोम ने किसी समय लोगों के हृदयों में इसी प्रकार प्रेम का प्रसार किया था और सब का प्यारा बन गया था। सब के प्रेम का पात्र

बन कर सोम ने यश का लाभ किया था। सोम के क्षमा, दया, सहनशीलता, सन्तोष और प्रेम आदि सात्विक भावों को देख कर लोगों ने सोम को अपने हृदयों में स्थान दिया था। सोम का चारों ओर यश फैल गया। प्रेम और दया की आग में बांधने वाले मनुष्य को लोगों ने सोम का नाम दे दिया। यदि मनुष्य चाहते हैं कि वे संसार में शान्ति का जीवन व्यतीत करें तो उन्हें सोम बनना चाहिए। सात्विक गुणों को धारण करना चाहिए। इससे उन्हें यश प्राप्त होगा और वे प्रेम सूत्र में संगठित होकर जिस कार्य में चाहेंगे उसमें सफलता प्राप्त कर सकेंगे। सोम ने यश की कामना से अग्न्याधान किया था और सबको संगठित किया था। परमेश्वर हम सब में प्रेम की अग्नि प्रज्वलित करे कि जिससे हम सच्चे सोम बन कर परस्पर प्रेम सूत्र में संगठित हो जावें।

अग्निहोत्र क्यों करना चाहिए ?

शाश्वद्ध वा एष न सम्भवति योऽग्निहोत्रं न जुहोति तस्मादग्निहोत्रं होतव्यम् ॥ शा० ब्रा० २. २. ४. ८ ॥

वह मनुष्य कभी फूलता फलता नहीं जो अग्निहोत्र नहीं करता, इस कारण अग्निहोत्र करना चाहिए।

संसार में विचारों का शासन है। मनुष्यों के मन में विचार उठते हैं। विचारों के ऊपर मनुष्य अपनी जान खेल जाते हैं। विचारों के ऊपर मनुष्य अपना तन, मन, धन न्योछावर कर देते हैं। विचार अग्नि हैं। मनुष्य विचारों का पुतला है। मनुष्य अग्नि का पुञ्ज है। जिस मनुष्य से विचारों का उद्गम

नहीं होता, जो मनुष्य बुझा हुआ है, वह मनुष्य मनुष्य नहीं—वह केवल पशु है--दूसरे अग्नियों की भोग्य सामग्री है।

विचारवान् मनुष्य अपने मन के द्वारा यज्ञ करता है। यज्ञ करता है अर्थात् वाक् का प्रयोग करता है। वाक्-यज्ञ में सत्य का व्रत धारण करता है। कहा है—

चक्षुर्वै सत्यम्।

जो बात देखी है—स्वयं अनुभूत है वह सत्य है। जो सत्य का व्रत धारण करता है वह कहता है— देखी हुई बात को अपनी वाणी से कहूंगा, अपनी अनुभव की हुई बात दूसरों को बतलाने के लिये वाणी का प्रयोग करूंगा। वाणी जिस रूप में प्रकट होती है वह रूप वाणी को मन के द्वारा प्राप्त होता है। वाणी से मनुष्य के मन का भान होता है। मन का स्वरूप मनुष्य की वाणी में उतर आता है। वाणी की प्लेट पर मन का फोटो खिंच जाता है। मन के अन्दर जो २ विचार उठते हैं उन विचारों का स्वरूप ही मन का स्वरूप होता है। किसी विचार की अत्यन्त प्रबलता वा टिकाव का परिणाम यह होता है कि वह विचार वाणी के रूप में फूट निकलता है। विचार अग्नि हैं वे वाणी का रूप धारण करके मुख से प्रकट हो जाते हैं।

अग्नि र्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्।

मनुष्य जब व्रत धारण करता है तो अपने कर्म क्षेत्र को सीमित करता है अपनी सर्व क्रियाओं को अपनी सीमा के केन्द्र

में केन्द्रित करता है। ऐसा करने से ही वह अपने व्रत का पालन कर सकता है और इसी प्रकार ही उसका यज्ञ पूरा हो सकता है। अपनी क्रियाओं को केन्द्रित करने से वा एक लक्ष्य में बांधने से मनुष्य की आत्मा में एक प्रकार का बल उत्पन्न हो जाता है जिसका नाम श्रद्धा है। इस श्रद्धा बल के भरोसे पर ही व्रत का पालन होता है व्रत में सफलता मिलती है। जिस श्रद्धा बल के आश्रय मनुष्य को अपने व्रत में अपने निश्चित कार्य में—सफलता मिलती है वह श्रद्धा बल ही मनुष्य के आत्मा के स्वरूप को प्रकट करता है।

यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।

श्रद्धा के द्वारा मनुष्य की व्रत में (कार्य में) तत्परता का नाम ही दीक्षा है। मैं इस कार्य को कर ही डालूंगा—करके ही छोडूंगा—इस प्रकार की धी का (प्रबल बुद्धि का वा विचार का) अपने मन में बैठा लेना ही दीक्षा है। धियः क्षयः धीक्षयः, धीक्षयः एव धीक्षा, धीक्षा एव दीक्षा। व्रत ग्रहण करना व्रत के प्रति मनुष्य की श्रद्धा को प्रकट करता है। श्रद्धा ही दीक्षा है। श्रद्धा के द्वारा मनुष्य अपने आपको व्रत के लिये, कर्तव्य के लिये अर्पण कर देता है; अपने आपको आहुत कर देता है, अपने आपको हविः बना कर व्रत की अग्नि में छोड़ देता है। व्रत को पालन करते हुए मनुष्य का तन, मन, धन स्वाहा हो जाता है परन्तु उसकी आत्मा अमर होकर उज्ज्वल होकर उस अग्नि में से निकल जाती है।

इस प्रकार अग्नि में अपना बीज वपन करने से वा अग्नि-होत्र करने से प्रजा के रूप में जो अपना उज्ज्वल रूप तैयार

होता है उससे मनुष्य संसार में फूलता फलता है, ख्याति प्राप्त करता है, अपने कार्य का आगे प्रसार करता है। वाक् रूप में प्रकाशित हुई उसकी अपनी महिमा सर्वत्र फैल जाती है। जहां २ उसकी महिमा फैलती है वहां २ उसका आधान होता है। एक नये विचार को फैलाने वाले मनुष्य की अपनी महिमा का प्रसार ही उसका स्वाहा (स्वो वै मा महिमाऽऽह इति स्वाहा) उच्चारण है। स्वाहा बोलने से उस देवता की महिमा प्रकट होती है जिसके लिये स्वाहा उच्चारण किया जाता है। उसकी महिमा के क्षेत्र में आये हुए मनुष्य उस व्रतपति की अग्नि में अपना २ हवन कर डालते हैं—अपने आपको उसके मिशन के अर्पण कर देते हैं। इस प्रकार वह व्रतपति अग्नि सूर्य के समान सर्वत्र चमकता है, अपने यश के द्वारा वायु के समान सर्वत्र गति करता है और अपने विचारों के द्वारा अपने क्षेत्र के चारों ओर चक्कर लगाता है। इस प्रकार जो अग्निहोत्र करता है वह अवश्य ही संसार में फूलता फलता और ख्याति को प्राप्त करता है। मनुष्यों को चाहिए कि जो मनुष्य अपने २ क्षेत्रों में सफलता चाहें वे अवश्य इस प्रकार अग्निहोत्र किया करें।

जो मनुष्य अपने आपको किसी उद्देश्य की पूर्ति में खपा देता है उसके लिये लोगों के दिल में आशङ्का उठती है कि इस प्रकार अपने आपको खपा देने से क्या लाभ। संसार में रह कर संसार का सुख नहीं भोगा और आराम से जिन्दगी न बिताई तो संसार में रहने का क्या लाभ। संसार की स्टेज पर इतने लोग आये अपना २ खेल खेलकर चले गये मृत्यु के

फन्दे में फंसने से कोई न बचा, इसीलिये किसी कार्य के पीछे तुल जाना यह बड़ी मूर्खता है, कोई बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है। मृत्यु अग्नि सब को अपना ग्रास बना रहा है। देखते २ तो मनुष्य सब कुछ है परन्तु ज्यों ही उसका ग्रास बना वह ख़तम हुआ। इसलिये किसी कार्य के पीछे मर मिटने की अर्थात् अग्नि-होत्र करने की कुछ आवश्यकता नहीं है। यह आशङ्का मनुष्यों को समय २ पर हुआ करती है। इसका फल यह होता है कि मनुष्यों के जीवन निराशामय हो जाते हैं, जीवनों में कुछ जीवन प्रतीत नहीं होता, जाति में निष्प्राणता छा जाती है। मुर्दा जाति जीते जी भी मुर्दे से ज्यादह नहीं रहती। ऐसी निष्प्राण जाति प्राणवान् जातियों से ठुकराई जाती है पद दलित की जाती है, मिट्टी में रोंधी जाती है।

बुद्धिमान् मनुष्यों के दिलों में जीवन के सम्बन्ध में जब इस प्रकार की आशङ्का उत्पन्न होती है तो उसका परिणाम बुरा नहीं निकलता, अच्छा ही निकलता है। बुद्धिमान् मनुष्य जीवन के सतत प्रवाह को अनुभव करते हैं, वे देखते हैं किसी कार्य को जिम्मेवारी के साथ करने में मनुष्य मंज जाता है, उसका कालुष्य नष्ट हो जाता है, उसकी मैल छट जाती है, उसकी मुर्दानगी काफूर हो जाती है। वे देखते हैं आग के अन्दर डाला हुआ सोना आग के तीव्र ताप से कुन्दन हो जाता है, उसके सब मल कट जाते हैं। मैल में सने हुए सोने की आत्मा सोना ही है और शुद्ध सोने की आत्मा भी वही सोना है। आग में तपने से सोना सोना हो जाता है पहले भी सोना होता है और पीछे भी सोना रहता है, आग की तपश सोने को नेस्त

नाबूद नहीं कर देती, उसको मिटा नहीं देती, प्रत्युत उसको चमका देती है। इसी प्रकार किसी कार्य की जिम्मेवारी को उठाना अपने आपको मृत्यु के मुख में रखना है। जिम्मेवारी अग्नि का स्वरूप है, जिम्मेवारी को धारण करना आग में प्रवेश करना है। जिम्मेवारी की आग मनुष्य के जीवन के मैल को छांट देती है! इस आग में पड़ कर मनुष्य अपनी दुर्वृत्तियों के—पाप के बने हुए मैले शरीर का भस्म कर नये शुद्ध चमकीले रूप को धारण करता है। उसका दूसरा जन्म होता है, वह नवीन बन जाता है वह द्विज बन जाता है। जिम्मेवारी की आग में से उत्पन्न हुए सत्य स्वरूप निर्मल उज्वलरूप इस वीर नवीन कुमार पर चारों ओर से देवों की दृष्टि पड़ती है--चारों ओर से देव उसे देखने आते हैं। अग्नि उसमें नेतृत्व को देखते हैं। पवन उसमें क्रियाशीलता--कर्म कुशलता को देखते हैं। सूर्य उसमें प्रकाश, तेज और उदात्तता को देखते हैं। जहां २ मनुष्यों पर उसके नेतृत्व का, क्रियाशील जीवन का, प्रकाश, तेज और उदात्तता का प्रभाव पड़ता है वहां २ मनुष्य वीर बन जाते हैं, कोई उसके नेतृत्व की भावना से भावित होकर अग्नि बन जाते हैं, कोई उसकी कर्मशीलता से भावित होकर वायु बन जाते हैं और कोई उसके प्रकाश, तेज और उदात्तता के प्रभाव से सूर्य बन जाते हैं। इसी प्रकार इन वीरों की सन्तानों में इसी जीवन का, अग्नि का आधान होता है तो वीरों के वीर पैदा होते हैं। आग से आग पैदा होती है और यदि आग न हो तो कोयले का टुकड़ा कोयला ही रहता है। निस्तेज बेकदर रहता

है, निस्तेज निर्वीय जिससे चाहे जैसे ठुकराया जाता है, जिससे चाहे जैसे दबाया और तंग किया जा सकता है। जो अग्निहोत्र नहीं करता वह निस्तेज है, निर्वीय है, निष्प्राण है, निर्जीव है, मुर्दा है दूसरों से हमेशा पददलित होने के योग्य है, ठुकराया जाने के लायक है।

अग्निहोत्र करने वाले वीर कहते हैं कि हम अपने वीर पिता की औलाद हैं—जैसा वह था वैसे ही हम हैं—तो हम भी ऐसी औलाद पैदा करें जो हमारे अनुरूप हो--जैसे हम हैं वैसी ही हो।

ते उ ह एते (वीराः) ऊचुः वयं प्रजापति पितर मनुस्मो हन्त वयं यत्सृजामहै यदस्मानन्वसत्।।

शा० ब्रा० २. २. ४. ११ ॥

यह है अग्निहोत्र का महत्व कि पुत्र कह सकता है कि मैं अपने बाप की औलाद हूं। जैसा मेरा पिता था वैसा ही मैं हूँ। मुझे देख लो जैसा मैं हूं वैसा ही मेरा बाप था और जैसा मैं हूँ वैसा ही मेरा पुत्र होगा। जिस घर के अन्दर पिता से पुत्र अलग चले और पुत्र से पिता नाराज रहे उस घर में अग्निहोत्र नहीं होता। ऐसे घरों में किसी उद्देश्य विशेष को, किसी विचार विशेष को जीवन में किसी कार्य विशेष को (यज्ञ को) पूरा करने की धगस में सहायक प्राप्त करने को सन्तानें उत्पन्न नहीं की जातीं। बिना किसी उद्देश्य के केवल अपनी कामवासना को तृप्त करने को गरज से जो सन्तानें उत्पन्न हो जाती हैं वे सन्तानें अपने बाप की सन्तानें नहीं कहला सकतीं क्योंकि वे संसार में किसी उद्देश्य विशेष को पूरा करने के लिये माता

पिता की ओर से नहीं भेजी गई। वे सन्तानें उस पत्र के समान हैं जिसे पता बिना लिखे लैटर बक्स में छोड़ दिया गया है। जिस पत्र का पता नहीं उसने कहां जाना है और किस कार्य के लिए जाना है। बेपते की सन्तानों पर, लावारिस सन्तानों पर माता पिता कुछ क्लेम नहीं कर सकते उनसे किसी अपनी आशा को पूर्ण करने का दावा नहीं कर सकते। अग्नि का आधान करते हुए—बीज वपन करते हुए--विशेष विचारों से परिपूर्ण मन का योग यदि उस आधान में नहीं है तो उस वपन से कालान्तर में उत्पन्न फल उस आधान करने वाले बोने वाले का नहीं हो सकता क्योंकि मन के योग से ही तो वस्तु अपनी होती है जिस वस्तु में मन का योग नहीं रहता उस वस्तु में अपनापन भी नहीं रहता। अपनेपन का अर्थ ही मन का योग है।

गृहस्थाश्रम सांसारिक वासनाओं को तृप्त करने का आश्रम नहीं है। गृहस्थाश्रम एक बड़ी जिम्मेवारी का आश्रम है। जिस विवाह संस्कार को करके मनुष्य गृहस्थाश्रम को धारण करता है उस विवाह का अर्थ है संसार में अपने जीवन में उठाये हुए कार्यों को अर्थात् आरम्भ किये हुए यज्ञों को अर्थात् अपने ऊपर ली हुई जिम्मेवारियों को पूरा करने के लिये—आगे चलाने के लिये—स्वयं विविधरूपों को प्राप्त होना या विविधरूपों को धारण करना (विविधेषु रूपेषु वाहनम् प्रापणम् विवाहः) जिस मनुष्य का जीवन निरुद्देश्य है वह विवाह करने का अधिकारी नहीं है, गृहस्थाश्रम की जिम्मेवारी उस पर नहीं डाली जा सकती। किसी कार्य की जिम्मेवारी लेकर उसे अधूरा

बिना पूरा किये बीच में ही छोड़ देना इस बात को सूचित करता है कि ऐसे आदमी को कोई जिम्मेवारी का काम नहीं सौंपा जा सकता, उसे यज्ञ में (किसी जिम्मेवारी के काम में) भाग लेने का अधिकार नहीं है। परन्तु जो मनुष्य किसी जिम्मेवारी के काम को उठा कर अर्थात् यज्ञ आरम्भ करके उसे पूरा करने की धुन में है और अपने लिये किसी ऐसे उत्तम से उत्तम सहायक की अपेक्षा रखता है जिसके बिना वह उस कार्य को पूरा नहीं कर सकता तो उसके लिये आवश्यक है कि अपने विचाराग्नि से परिपूर्ण मनोयोग के साथ बीज वपन करके वा अग्न्याधान करके अपने ठीक अनुरूप ऐसा पुत्र उत्पन्न करे जो तैयार होकर उसका सहायक बन कर उसके कार्य को पूर्ण करे, उसके यज्ञ का सम्पादन करे, उसको जिम्मेवारी से वा ऋण से मुक्त करे। ऐसे मनुष्य की, गति-कार्य में सफलता—यज्ञ की पूर्ति बिना पुत्र के नहीं हो सकती क्योंकि सबसे उत्तम से उत्तम नजदीक से नजदीक और अनुरूप से अनुरूप सहायक उसके पुत्र के सिवाय दूसरा उसका नहीं हो सकता क्योंकि विशेष संस्कारों से युक्त बीज के आधान से उत्पन्न किया गया पुत्र उसका अपना ही फैलाव है। इसी को लक्ष्य करके कहा है बिना पुत्र के संसार में गति नहीं है—

नापुत्रस्य गतिरस्ति।

अग्निहोत्र करने वाला पिता लावारिस पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकता। उस पिता का पुत्र बड़े फ़ख्र के साथ कह डालता है कि मैं अपने पिता के ठीक अनुरूप हूँ, उसके काम को पूरा

करने वाला हूं और मेरी सन्तान भी ठीक मेरे अनुरूप होगी, मेरे कार्य को पूरा करने वाली होगी।

मनुष्य समाज में सन्तान का प्रवाह किसी न किसी खास मिशन को पूरा करने के लिये चल रहा है। रघुकुल का मिशन वचन का पालन करना अर्थात् सत्य को न छोड़ना कवियों ने गाया है--

"रघुकुल रीति सदा चली आई।
प्राण जांय पर वचन न जाई।"

रामोद्विर्नाभिभाषते।

वंश परम्परा से चलता हुआ यह मिशन ही 'गौ' शब्द से कहा जाता है। किसी एक गौ को ग्रहण करके सन्तान परम्परा में उसके रस का (सार का) अपने मनोयोग से आधान करते चले जाने से उस गौ की रक्षा होती है, गौ का पालन होता है। जिस मिशन को (गौ को) पूरा करने के लिये वा उसको पालन करने के लिये कोई सन्तान परम्परा अपना ध्येय बना लेती है उसी गौ के नाम से, उस सन्तान परम्परा का नाम पड़ जाता है जिसे गोत्र कहते हैं।

एक मिशन के लोगों का वा एक गोत्र के लोगों का एक विशेष स्वरूप बन जाता है जिसके कारण वे ही उस मिशन के कार्य को वा अपनी गो की रक्षा को दिलोजान से कर सकते हैं, दूसरे नहीं। सायं प्रातः अग्निहोत्री को अपनी गौ का उपस्थान करना आवश्यक होता है--अपने मिशन के कार्य के प्रति अपनी श्रद्धा वा लगन को तरोताजा करना होता है। इस प्रकार मिशन

के कार्य में तत्परता को तरोताजा करके अग्निहोत्री अपने आपको तृप्त किया करते हैं। इस प्रकार मिशन की भावना से भावित होने का नाम ही गोरस का, दूध का, पान करना है—अपनी हृदय वेदि पर जलती हुई मिशन की अग्नि में दूध की वा घृत की आहुति डालना है।

इस प्रकार जो मनुष्य सायं प्रातः अग्निहोत्र करते हैं वे संसार में उत्तम प्रजा के भागी होते हैं जिनको उनकी प्रजा उनका कह सकती है और संसार में अपने उद्देश्य में सफल होते हुए उस विजय को प्राप्त होते हैं जो सचमुच उनकी विजय कहलाती है। अग्निहोत्री जीवन में अपने लक्ष्य को बना कर अग्नि का स्वरूप धारण करता है उस लक्ष्य की पूर्ति के लिये दूसरों को प्रेरित करके वायु का स्वरूप धारण करता है और उद्देश्य में सफल होकर उसके प्रकाश से सबको लाभ पहुंचा कर सूर्य का रूप धारण करता है। इसलिये जो मनुष्य इसी प्रकार की प्रजा चाहता है और सफलता रूप विजय चाहता है उसे अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए।

अग्निहोत्र का महत्व

१. जो मनुष्य अग्निहोत्र हवन करता है जो मनुष्य करने को उद्यत होता है—उसके घर में सब देवता आते हैं। सब समझदार आदमी उसके त्याग को देखने, उसकी सराहना करने, उसके साथ सहानुभूति प्रकाशित करने, कष्ट में उसको मदद देने के लिये उसके घर में आते हैं। परन्तु जो मनुष्य बिना तैयारी के अग्निहोत्र करने लगता है, बिना नींव खोदे भवन

खड़ा करने के लिये उद्यत होता है, बिना भूमि तैयार किये कार्य आरम्भ करने लगता है, कुण्ड की बिना राख निकाले हवन आरम्भ करने लगता है, फोड़े की पूय आदि को बिना साफ़ किये उसे भरने के लिये मरहम लगाने लगता है, शाक भाजी को बिना साफ किये तपेले में चढ़ाने लगता है, सैनिकों की चाल को बिना साधे युद्धक्षेत्र में भेजने लगता है, उस मनुष्य से कार्य में सफल होने का भरोसा छोड़ कर समझदार विद्वान् लोग अर्थात् देव उसे छोड़ कर चले जाते हैं। उसकी सहायता के लिये, उसकी सराहना के लिये, उसका हौंसला बढ़ाने के लिये उसके पास नहीं रहते। समझदार लोग—देव—उसे मूर्ख नासमझ बिना विचारे काम करने वाला, धींगाधींगी से जबर-दस्ती जिम्मेवारी के कामों मे हाथ डालने वाला समझ कर उसकी तरफ से मुख मोड़ लेते हैं इससे उस मनुष्य का प्रयत्न निष्फल जाता है, वह अपने काम में सफल नहीं होता। जो मनुष्य कार्य करने की विधि को भली प्रकार समझ कर सफलता के लिये जिन बातों को ध्यान में रखने की आवश्यकता है उनका ठीक २ ज्ञान प्राप्त करके अर्थात् विज्ञान के सहित कर्म-काण्ड की पद्धति में निपुण होकर सर्व उपायों के साथ किसी जिम्मेवारी के कार्य को आरम्भ करता है—अग्निहोत्र करता है—तो उस कार्य में अवश्य सफलता मिलती है, सब लोग उसके मददगार होते हैं, उसका यश होता है। परन्तु इसके विपरीत जो ऐसा नहीं करता वह अपने कार्य में असफल होता है, कार्य में लगा हुआ उसका धन दौलत सब नष्ट हो जाता है, उसे कोई सहायक नहीं मिलता या उससे विमुख हो जाते हैं, उसे छोड़

देते हैं और उसका अपयश होता है। उसे सब लोग कहते हैं कि इसने बिना तैयारी के कार्य आरम्भ कर दिया था, बिना कुण्ड को साफ किये हवन आरम्भ कर दिया था अतः नष्ट हो गया। इसलिये अग्निहोत्र के महत्व को समझ कर मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक काम को बड़ी तैयारी के साथ करे, टालमटोल के साथ नहीं।

२. किसी भी कार्य करने की दिशा बतलाने वाला—उस पर प्रकाश डालने वाला—सूर्य है और उस कार्य को आगे ले जाने वाला अगुआ अग्नि है, सूर्य है और अग्नि है। जो भी आहुति दी जाती है--जो भी कार्य किसी को सौंपा जाता है—वह अग्नि के द्वारा ही सौंपा जाता है, आहुति अग्नि में ही दी जाती है। अग्नि के द्वारा उस आहुति का वा उस कार्य का विश्लेषण होता है। विश्लिष्ट कार्य का एक २ भाग जिस २ के योग्य होता है अग्नि के द्वारा उस २ को मिल जाता है। जब अग्नि में स्फूर्ति और चमक रहती है तब अग्नि अपना कार्य उत्तम रीति से करता है। सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के पश्चात् अग्नि में चमक विशेष रहती है, मानो सूर्य ही चमक के रूप में अग्नि में बैठा हुआ हो। सायंकाल 'अग्निर्ज्योतिः' मन्त्र से तो अग्नि को लक्ष्य करके ही आहुति दी जाती है, यह आहुति तभी देना उचित है जब कि दूर २ चारों ओर अग्नि की ज्योतिः का प्रसार प्रतीत हो जो कि सूर्यास्त के बाद ही सम्भव है, परन्तु प्रातःकाल 'सूर्योज्योतिः' मन्त्र से जो आहुति दी जाती है वह दी अग्नि में ही जाती है क्योंकि सूर्य सीधा उसे ग्रहण नहीं कर सकता। सूर्योदय से पूर्व अग्नि ज्योतिष्मान

रहता है मानो सूर्य ही ज्योतिः रूप से अग्नि में प्रतिष्ठित है, अतः ज्योतिष्मान् अग्नि में प्रातःकाल आहुति देना मानो सूर्य को ही आहुति देना है। इस प्रकार प्रातःकाल सूर्य के उदय न होने पर आहुति देना अग्नि में विद्यमान सूर्य को आहुति देना है और सायंकाल सूर्यास्त पर अग्नि में आहुति देना अग्नि में सूर्य के गर्भरूप से विद्यमान होते हुए अग्नि को आहुति देना है। सायंकाल सूर्य अपने ज्योतिः रेतः का अग्नि में आधान करके गर्भस्थ होता है और प्रातःकाल सूर्य बालकरूप से ऐसा उदय होता है जैसा गर्भ से शिशु उदय होता है।

इसी प्रकार विज्ञान का प्रकाशक सूर्यवत् प्रकाशमान वैज्ञानिक ऋषि विज्ञान को प्रयोग में ला कर दिखाने वाले अग्नि के हृदय में अपने विज्ञान के रूप में आहित होता है। आहित हुआ वही विज्ञान उस अग्नि के द्वारा विभिन्न रूपों में, प्रयोगों में दृष्टिगोचर होता है जिसके द्वारा साधारण जनता लाभ उठाया करती है। प्रयोक्ता अग्नि के हृदय में गर्भित विज्ञान परिपक्व होता है और फिर परिपक्व होकर प्रयोगरूपी शिशु के रूप में संसार में प्रकट होता है। प्रयोगरूप में उदय हो जाने से असम्भवता का आवरण उस पर से इस प्रकार दूर हो जाता है जिस प्रकार कांचली को छोड़ कर सांप के प्रकट हो जाने से सांप का आवरण कांचली दूर हो जाता है।

इस प्रकार जो मनुष्य आधान, परिपक्वता और जन्म इन तीन रूपों में अग्निहोत्र के महत्व को समझता है वह सचमुच कांचली से मुक्त सांप की तरह सब पापों से, कालुष्य से

मुक्त होकर जिम्मेवारी को समझ कर यथार्थ सच्ची प्रजा को उत्पन्न करता है, संसार को कुछ देता है अपना सच्चा प्रतिनिधि संसार में छोड़ता है। परमेश्वर हमें बल दे कि हम अग्निहोत्र के महत्व को समझ कर संसार को अपना सच्चा प्रतिनिधि देने में समर्थ बनें।

३. अग्निहोत्र का महत्व, अग्निहोत्र की अनन्तता (अनुपस्थिता) में है। अग्निहोत्र का स्वरूप चक्र है। चक्र का न आदि और न अन्त। सायम् प्रातः, प्रातः सायम्, पुनः सायं प्रातः, प्रातः सायम्। बस! इसी प्रकार सायं प्रातः का चक्र चल रहा है। सायम् अग्निहोत्र कर लिया तो प्रातः करूंगा और प्रातः कर लिया तो सायम करूंगा। सायम् प्रातः के चक्र पर चढ़ा हुआ अग्निहोत्र सायम् प्रातः के समान अनन्त है। सायम् के पश्चात् प्रातः अनुपस्थित है और प्रातः के पश्चात् सायम् अनुपस्थित है। सायम् प्रातः की इस अनुपस्थिता में ही अग्निहोत्र की अनुपस्थिता अर्थात् अनन्तता है।

अग्निहोत्र के इस महत्व को समझने वाला मनुष्य कभी निराश नहीं होता है। बाधायें, तकलीफें सामने आती हैं, घबराहट पैदा होती है परन्तु अग्निहोत्र की अनन्तता के रूप को प्रकट करने वाली अग्नि हृदय पटल पर से कभी बुझने नहीं पाती। मनुष्य कभी मुर्झा जाता है परन्तु अपनी अमर ज्योतिः का ख्याल उठते ही फिर उसका खून जोश मारने लगता है, उसके ठण्डे खून में फिर जान आ जाती है। घबरा कर कार्य को छोड़ बैठा था परन्तु फिर कार्य को सम्भाला और सफलता

हुई। भगवान् कृष्ण ने ठण्डे पड़े हुए अर्जुन को अमर ज्योति का दर्शन कराया और अर्जुन को अमर कर दिया।

अग्निहोत्र मनुष्य को सायम् प्रातः ज्योतिः के अमरत्व से भावित करता रहता है। इसी अमरता को ध्यान में रख कर संसार में नई से नई उत्पत्ति, नये से नये आविष्कार के लिये मनुष्य सतत उद्यत रहता है। उत्पत्ति का सिलसिला कभी बन्द नहीं होने पाता। यदि अमरता का ख़याल लोगों के दिलों से उठ जाय तो कोई भी मनुष्य ऐसे बड़े २ कामों को संभालने में क्यों हाथ डाले जिनको वह स्वयं अपने जीवन में पूरा कर नहीं सकता। जीवन का अमरत्व और जीवन की सततता उसे सफलता के लिये हमेशा उद्यत रखती है। मनुष्य इस जीवन में कार्य आरम्भ कर जाता है कार्य का बीज बो जाता है और अग्निहोत्र के द्वारा सर्वदा उन्नतिशील जीवन का प्रवाह चलाता हुआ अगले जन्म में फिर उसके फलों का भोग करने के लिये तैयार हो जाता है उसकी श्री को धारण करने में समर्थ हो जाता है।

इस प्रकार जो मनुष्य अग्निहोत्र की अनन्तता के रूप में अथवा अमर ज्योति के रूप में अग्निहोत्र के महत्व को पहिचानता है वह प्रजा से और श्री से हमेशा सम्पन्न रहता है निराशा व असफलता उसके सामने नहीं टिकतीं उसका जीवन सर्वदा उद्यमी क्रियाशील और आत्म विश्वास वाला होता है।

भगवान् हम पर कृपा करें कि हम अग्निहोत्र के महत्व के द्वारा ज्योति की अमरता को समझें, कभी निराश न हों, सदा सफल बनें।

अग्निहोत्र से लाभ

१. संसार में प्रजा का उत्पन्न करना मुश्किल नहीं है; किन्तु उत्पन्न प्रजा को संभालना बड़ा ही मुश्किल है। प्रजा न संभले तो मृत्यु का रूप धारण करके पैदा करने वाले को ही खाने खड़ी हो जाती है। अतः बहुत ही सोच समझ करके प्रजा उत्पन्न करनी चाहिए।

प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न की अग्नि को भी उत्पन्न किया। अग्नि ने पैदा होते ही सब कुछ दग्ध कर देने की ठानी। जितनी प्रजा थीं वे सब व्याकुल हो गयीं। प्रजाओं ने सोचा हम सब मिलकर इसे पीस डालें यह है ही क्या? अग्नि ने उन्हें क्षमा नहीं किया और वह प्रजापति के सामने पहुंचा। उसने कहा—मुझसे यह सहन नहीं होता, आखिरकार मैं तुझमें प्रवेश करता हूँ, मुझे तू पैदा करके संभाल। जो तू मुझको इस लोक में पैदा करके संभालेगा तो मैं तुझे परलोक में पैदा करके संभालूंगा। इस शर्त पर प्रजापति ने उसे पैदा करके संभाला—धारण किया - उसका पालन पोषण किया।

अग्न्याधान करना वस्तुतः अग्नि को पैदा करना है। अग्नि को पैदा करके फिर उसे धारण करना है—उसके पालन पोषण का इन्तजाम करना है। जब मनुष्य की एक प्रबल धारणा संसार में प्रकट होकर स्वरूप धारण करती है, तब आवश्यक होता है कि वह पुष्ट हो और फूले फले। यदि मनुष्य उससे अपना लाभ समझते हैं तो प्रकट हुई उस अग्नि में चारों ओर से अपनी २ आहुति डालने लगते हैं—जिससे जिस तरह

से बन पड़ता है वह उसी तरह से उस अग्नि को जीवित रखने के लिये सहायता पहुँचाने लगता है। चारों ओर से सहायता पाकर वह अग्नि जीवित जाग्रित हो जाता है और जिन्होंने उसे सतेज किया है उनकी सहायता प्राप्त करके मनुष्यमात्र के भले में लग जाता है। मनुष्यमात्र के भले में लगने से उसे एक नया ही लोक प्राप्त होता है जिसका नाम यशोलोक है जो जन्म धारण करने मात्र इस भूलोक से अधिक विस्तृत, अधिक महान् महत् लोक है, दिव्यलोक है, परलोक है। जन्म पूर्व लोक है और यश परलोक है। इस यशोलोक में—परलोक में—पुत्र के यश के साथ पिता को भी यश प्राप्त होता है। पुत्र अपने यशोलोक में—परलोक में—पिता को धारण करता है—पिता को पुष्ट करता है, क्योंकि बीज रूप में पिता का आधान किया हुआ विचाराग्नि ही तो पुत्र में पुष्ट होकर यश को प्राप्त हुआ है। विचाराग्नि के रूप में पुत्र में पिता की ही पुष्टि होती है। इस प्रकार यह पुत्र रूप में होकर भी पिता ही रहता है। इस लाभ को प्राप्त करने के लिये भी अग्निहोत्र करना ही चाहिए।

पुत्रो ह्येष सन्त्सपुनः पिता भवति,
एतन्नुतद्यस्मादग्नी आदधीत ।

२. मृत्यु से छुटकारा हर कोई चाहता है। परन्तु संसार का नियम है कि मर कर हर कोई जन्म लेता है और जन्म लेकर हर कोई मरता है।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥

फिर भी मृत्यु से छुटकारे के लिये हर किसी का प्रयत्न है। उस मृत्यु से छुटकारा जिसके लिये मनुष्य प्रयत्न करता है वह अग्निहोत्र से प्राप्त होता है।

किसी कार्य में सम्पन्न होने के लिये तीन क्रम होते हैं—प्रथम क्रम में उस कार्य के लिये कच्चा सामान इकट्ठा करना होता है, द्वितीय क्रम में उस सामान को ऐसे क्रम में बनाना होता है वा ऐसा सम्बन्ध करना होता है कि उससे प्रयोजन सिद्ध हो सके। तृतीय कर्म में उस बने हुए साधन से जीवन में लाभ प्राप्त किया जाता है। प्रथम क्रम में दक्ष (बल) के साथ चारों ओर से सामान इकट्ठा करने की दिशा (मार्ग) दक्षिणा दिशा है। जो सामान दक्षिण दिशा में आहुत होता है, जो मनुष्य इसी प्रकार किसी कार्य के लिये अपने आपको आहुत करते हैं, किसी कार्य को पूरा करने के लिये भर्ती होते हैं वह सब सामान व मनुष्य दक्षिणाग्नि का रूप है। सामान को तरतीब में करना, मनुष्यों को कार्य के लिये तैयार करना अर्थात् पकाना गार्हपत्याग्नि का रूप है। तैयार सामान व पके हुए—सधे हुए—मनुष्यों का कार्य को पूरा करने के लिए जुट जाना आहवनीयाग्नि का स्वरूप है। तीसरे क्रम के पश्चात् मनुष्य अपने जीवन में आनन्द प्राप्त करता है। इस आनन्द का प्राप्त करना वस्तुतः स्वर्ग का प्राप्त होना है—सांसारिक कष्ट पर (मृत्यु पर) विजय प्राप्त करना है—मृत्यु से छुटकारा पाना है।

अग्नि में कूदना—किसी कार्य को पूरा कर डालने के लिये सन्नद्ध हो जाना—मृत्यु में पांव रखना है। किसी भवन को

बनाने के लिये जितना भी सामान प्राणी या अप्राणी इकट्ठा होता है वह सब का सब उस भवन के रूप में खड़ा नहीं हो जाता। बहुत सा सामान केवल सहायक रूप से रहता है, उसमें से कुछ तो गिर जाता है और कुछ वापिस हो जाता है। जो सामान उस भवन के रूप में खड़ा होकर भवन बन जाता है उसके द्वारा मकान मालिक स्वर्ग का व आनन्द का भोग करता है। जो सामान भवन के रूप में खड़ा हो चुका वह तो अग्नि में पड़ कर मर चुका अर्थात् अपनी स्वन्तत्र सत्ता खो चुका, परन्तु मकान मालिक संकल्पाग्नि में पड़ कर अपने संकल्प को पूरा करके उसके पार हो गया वह अमर हो गया—उसने मृत्यु पर विजय प्राप्त की। जो मनुष्य संकल्पाग्नि को पूरा नहीं कर पाते हैं वा पूरा करने में ही समाप्त हो जाते हैं वे अर्वाक् प्रजा के रूप में ही रह कर मर जाते हैं—असफल रहते हैं, परन्तु जो कर्मयोगी कर्मकुशल मनुष्य संकल्प को पूरा करके सकल्पाग्नि के पार हो जाते हैं वे प्राक् प्रजा के रूप में देव, विद्वान्, तजरबे-कार होते हैं इसीलिये वे अमृत होते हैं।

संसार में यह सूर्य जो तप रहा है—यह अग्नि है—यह मृत्यु है। इसी के भिन्न भिन्न प्राण इस से निकलते हैं जो जड़ चेतन सब पदार्थों में विभिन्न रूपों में अपने आपको प्रकट करते हैं।

नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः।
सर्वाः प्रजाः रश्मिभिः प्राणेष्वपिहिताः॥

इन्हीं प्राणों के द्वारा गृहीत हुई प्रजायें नानाविध संकल्पाग्नियों के रूप में संसार में अपनी २ हलचल कर रही हैं। वस्तुतः उन प्राणों की ही संकल्पाग्नियों के रूप में हलचल हैं। इससे अधिक गहराई से कहें तो सूर्य मृत्यु है और इस मृत्यु के मुख में सम्पूर्ण जगत् निहित है। जो मनुष्य अपने संकल्प को पूरा कर डालता है वह मृत्यु से छुटकारा पा जाता है, पार हो जाता है देव और अमृत हो जाता है परन्तु जो संकल्प को पूरा नहीं कर पाता है वह अर्वाक् (इधर) ही रह कर मर जाता है, बार २ संकल्प किया करता है और बार २ मरा करता है।

अग्निहोत्र करने वाला मनुष्य सायंकाल सूर्यास्त होने पर दो आहुतियां अग्नि में छोड़ता है। दो आहुतियां दो पद हैं। एक पद संकल्प की दृढ़ता है और दूसरा पद संकल्प को पूरा करने के लिये सामान का इन्तज़ाम है। इन दो पदों से (दो आहुतियों से) मृत्यु पर सवार होता है—जिम्मेवारी को ग्रहण कर लेता है। प्रातःकाल भी दो आहुतियां सूर्योदय से पूर्व ही अग्नि में डालता है। इन दो से भी वह मृत्यु अग्नि में प्रतिष्ठित होता है। संकल्प को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाता है और निर्माण प्रारम्भ कर डालता है। सूर्य उदय होते ही मानो इसे ग्रहण करके उदय होता है अर्थात् जैसे २ सूर्य ऊपर चढ़ता जाता है वैसे २ उसका कार्य भी सम्पन्नता की ओर चढ़ता चला जाता है। इस प्रकार मनुष्य कार्य में सफल हो जाता है और मृत्यु से (ज़िम्मेवारी से) छूट जाता है। जो मनुष्य अग्निहोत्र के इस महत्व को समझता है कि अग्निहोत्र के द्वारा मनुष्य का मृत्यु से छुटकारा हो जाता है वह अपने कार्य में

अवश्य सफल होता है और मृत्यु से छूट जाता है। अतः मृत्यु से छुटकारे के सिद्धान्त को बतलाने के कारण मनुष्य को चाहिए अग्निहोत्र का कभी परित्याग न करे और सर्वदा इससे लाभ प्राप्त करे।

३. संसार में जितने भी यज्ञ हैं—जितने भी संगठन के कार्य हैं जो बिना त्याग की भावना के पूरे नहीं होते, जिनमें अपने आपको खतरे में डालना पड़ता है—उन सब में मुख्य यज्ञ अग्निहोत्र है। बाण में उसकी नोक का जो स्थान है वही स्थान यज्ञों में अग्निहोत्र का है। जिस प्रकार बाण के अगले हिस्से को पकड़ने से सम्पूर्ण बाण को पकड़ लेता है, इसी प्रकार अग्निहोत्र को काबू कर लेने से सब के सब यज्ञ काबू में आ जाते हैं उन पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। अग्निहोत्र करने वाला मनुष्य—अग्निहोत्र में दृढ़ मनुष्य—किसी भी यज्ञ को किसी भी बड़े से बड़े कार्य को आसानी से कर डाल सकता है। चूंकि अग्निहोत्र के द्वारा मनुष्य के लिये तमाम यज्ञों में सफलता का द्वार खुल जाता है अतः समझना चाहिए कि अग्निहोत्र करने वाले के लिये सब यज्ञकर्म मृत्यु से छूटे रहते हैं अर्थात् बीच ही में नहीं मर जाते किन्तु सफलता के साथ सम्पन्न होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि अग्निहोत्र के ऐसे लाभ और महत्व को समझ कर कभी अग्निहोत्र करना न छोड़े।

हवन किस वस्तु का किया जाय?

एक बार याज्ञवल्क्य महाराज राजा जनक के पास गये। वहां उनके साथ इस प्रकार वार्तालाप होने लगा। राजा जनक

ने याज्ञवल्क्य से पूछा— हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुम अग्निहोत्र को अर्थात् उस वस्तु को जानते हो जिसका हवन किया जाता है याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—राजन् ! जानता हूं। क्या है ? दूध ही है। यदि दूध न हो तो किससे हवन किया जाय ? व्रीही (धान) और यव (जौ) से। यदि व्रीही और यव भी न हों तो किससे हवन करें ? अन्य जो ओषधियां हों उनसे। यदि अन्य ओषधियां भी न मिलें तो किससे ? जो जंगली ओषधियां मिल जावें उन्हीं से। यदि किसी मौके पर जंगली ओषधियां भी न मिलें तो ? वनस्पति अर्थात् बिना फूल के फल देने वाले किसी बड़े दरख़्त की लकड़ी आदि से ही हवन करे। यदि वनस्पति का भी कोई हिस्सा न मिले तो ? जल से ही हवन करले। यदि जल भी किसी मौके पर न मिले तो किससे हवन करें ? ऐसी हालत में याज्ञवल्क्य महाराज बोले—वह भी समय था जब कुछ भी नहीं मिलता था तो भी हवन तो होता ही था, श्रद्धा में सत्य का हवन होता था। श्रद्धा की अग्नि में सत्य घी का हवन सुन कर जनक राजा बोल उठे—याज्ञवल्क्य ! बेशक आप अग्निहोत्र को जानते हो आपको मैं सौ धेनु (गौ के आकार के बने हुए सुवर्ण के सौ सिक्के) अर्पण करता हूं।

यहां पर एक बात विशेष ध्यान देने की है। याज्ञवल्क्य ऋषि हवन करने योग्य द्रव्यों को बतलाते हुए एक २ के बदले में दूसरे २ अनेक द्रव्य बतला गये परन्तु मान्स व चरबी का हवन के द्रव्यों में कहीं नाम न लिया। एक के बदले में दूसरे द्रव्य बतलाते हुए मान्स और चरबी का नाम बड़ी आसानी से लिया जा सकता था। मजबूरी की हालत में कुछ न मिले तो

मान्स वा चरवी से ही हवन कर डाला जाय। जब ये भी न मिले तो क्रमशः श्रद्धा में सत्य की आहुति से ही हवन कर लिया ऐसा समझना उचित है। मांस और चरवी का हवन के द्रव्यों में नाम न लेना स्पष्ट सूचित करता है कि मांस और चरवी का हवन याज्ञवल्क्य ऋषि को अभीष्ट नहीं था।

यज्ञ करने वाले उत्तम गृहस्थियों को यज्ञ से बचे हुए अन्न का भोजन करना श्रेष्ठ बतलाया गया है। यज्ञ से बचा हुआ अन्न अमृत है। यज्ञ शिष्ट जो अमृत अन्न है उसका भोजन करने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। जो स्थिति विश्व में ब्रह्म की है वह स्थिति उनकी समाज में प्राप्त होती है।

यज्ञ शिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

चूंकि मांस और चरबी हवन द्रव्य नहीं है इसलिये ये यज्ञशिष्ट व अमृत अन्न भी नहीं कहला सकते। यज्ञ करके मनुष्य देवत्व को प्राप्त होता है। मनुष्य में देवत्व का वास अमृत भोजी होने से होता है। दूसरों की भलाई में अपने जीवन को समर्पण कर दे सकने वाला अर्थात् यज्ञ करने वाला मनुष्य गरीब जानवरों की हत्या करके अपना पेट कैसे भर सकता है? यज्ञ करने वाला मनुष्य यज्ञ के बहाने से भी अर्थात् मांस और चरवी को यज्ञ शेष करके भी इनका सेवन नहीं कर सकता। याज्ञवल्क्य ऋषि ने इनको यज्ञ में भाग न देकर देवान्न की कोटि में ग्रहण नहीं किया है। यज्ञ से बहिष्कृत रहने से ये पिशाचान्न माने गये हैं। मनु (११. ९५) में लिखा है—देवों के अन्न (हविः) को खाने वाले द्विज (ब्राह्मण) को चाहिए कि यज्ञ

राक्षस और पीशाचों के अन्न का अर्थात् मद्य मांस सुरा और आसव का सेवन न करे।

यदि कोई कहे कि शतपंथ ६. २ में 'मांसानि वा आहुतयः' कहा है. इसी प्रकार 'मांसीयन्ति ह वै जुह्वतो यजमानस्याग्नयः' हवन करते हुए यजमान की अग्नियां मांस की इच्छा करती हैं ऐसा कहा है, तो शत० ११. ७ में इसी को स्वयं स्पष्ट कर दिया है। 'एतद् ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसं स परमस्यैवान्नाद्यस्यात्ता भवति' कि यहां ऐसे २ स्थलों में यज्ञ प्रकरण में मांस शब्द से परमान्न का ग्रहण है, साधारण मांस का नहीं। अमरकोष में 'परमान्नं तु पायसम्' कह कर परमान्न की परिभाषा स्पष्ट कर दी है कि परमान्न शब्द से दूध से बने हुए खीर आदि पदार्थ लेने चाहिएं क्योंकि वे सत्वगुण प्रधान किंवा सर्वोत्कृष्ट होने के कारण परमान्न हैं। शतपथ ११. ७ में स्पष्ट कहा है 'पचन्ति वा अन्येषु अग्निषु वृथा मांसम्, अथैतेषां नातोऽन्या मांसाशा विद्यते यस्यो चैते भवन्ति' कि पिशाच लोग गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिण इन तीनों याज्ञिक अग्नियों से भिन्न अन्य अग्नियों में वृथामांस को पकाते हैं। क्योंकि जिस यजमान की ये अग्नियें होती हैं उन अग्नियों का इस परमान्न के अतिरिक्त अन्य मांस-भक्षण नहीं है। इससे स्पष्ट है कि यज्ञाग्नियों में मांस की आहुति नहीं है।

मांस सेवन से यज्ञ में दीक्षा का ही अधिकार नहीं रहता फिर मांस को यज्ञशिष्ट करके खाने की तो बात ही वृथा है। शतपथ ६. २ में कहा है—'न मांसमश्नीयात्, यन्मांसमश्नीयात्

यन्मिथुनमुपेयादिति न त्वेवैषा दीक्षा' कि मनुष्य मांसभक्षण न करे, यदि वह मांसभक्षण करता है अथवा व्यभिचार कर्म करता है तो वह यज्ञदीक्षा का ही अधिकारी नहीं रहता। क्योंकि मांसभक्षण से मनुष्य की वह यज्ञभावना ही नष्ट हो जाती है जिस यज्ञ कर्म में वह दीक्षित होना चाहता है। इसलिये कात्यायन श्रौत सूत्र (७, ११३, ११८) में लिखा है कि यज्ञ दीक्षा लेने से पूर्व सपत्नीक यजमान ब्राह्मण दुग्धपान का व्रत धारण करे, सपत्नीक क्षत्रिय यवागू व्रती रहे और सपत्नीक वैश्य आमीक्षा (श्रीखण्ड) पर रहे। अतः यज्ञ कर्ता को मांस सेवी कभी न होना चाहिए।

क्षीरव्रतौ भवतः सपत्नीको यजमानो व्रते दुग्धं पिबेत्। यवागूराजन्यस्यामीक्षा वैश्यस्य। का. श्रौ. ७, ११३, ११८

जो मनुष्य कच्चा वा पक्का मांस खाते हैं अथवा अण्डे खाते है वे कामी हो जाते हैं उनका यज्ञ में अधिकार नहीं है, यज्ञ से वे बाहर कर दिये जाते हैं। इन तीनों पदार्थों के सेवन से मनुष्य में काम आसक्ति बढ़ती है। अधिक २ सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से और संभोग के द्वारा अपनी कामवासना को तृप्त करने के लिये परस्पर प्रेम के जाल में एक दूसरे को फांसते हुए स्त्री पुरुष कच्चे पक्के मांस का व अण्डों का सेवन करते हैं। ऐसे कामी मनुष्य किसी भी यज्ञ को करने के अधिकारी नहीं रहते अर्थात् वे सार्वजनिक कार्यों को निष्काम भाव से करने की जिम्मेवारी नहीं उठा सकते। स्वार्थ के कारण दूसरों पर निर्दयता, अत्याचार और क्रूरता करने की आदत वाले

ये लोग अपने दुर्व्यव्यवहार से मनुष्यों के हृदयों में परस्पर अविश्वास, अशान्ति और वैमनस्य का अङ्कुर उत्पन्न कर देते हैं। ऐसे मनुष्यों को समाज की जिम्मेवारी का काम सौंपने से समाज भ्रष्ट हो जाता है। इस कारण ऐसे मनुष्य सामाजिक कार्यों से अर्थात् यज्ञों से बहिष्कृत कर दिये जाते हैं। अथर्ववेद में कहा है—

य आम मांसमदन्ति पौरुषेयश्च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥

कि जो कामी लोग कच्चा मांस खाते हैं वा पुरुष सम्पादित (पका हुआ) मांस खाते हैं वा अण्डों को खाते हैं उनको यहां से निकाल भगाते हैं, यहां नहीं रखते।

मनु ने कहा है—

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ५. ४९॥

कि मांस की उत्पत्ति जानवरों का वध करके उन्हें तकलीफ देकर होती है अतः किसी भी प्रकार का मांस भक्षण न करना चाहिए अर्थात् चाहे वह यज्ञशिष्ट किया गया हो या यज्ञशिष्ट न किया गया हो। इसी प्रकार चरक ने चिकित्सास्थान के १४वें अध्याय में कहा है—

निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः।
निजागन्तुकरुन्मादैः सत्ववान् न स युज्यते ॥

जो मनुष्य मांस मद्य से निवृत्त है, हितकर भोजन करता है, जितेन्द्रिय है, पवित्र है, बलवान है उसे निज और आगन्तुक दोषों से उत्पन्न पागलपन का रोग नहीं होता। हिताशी शब्द से स्पष्ट है कि मांस मद्य का सेवन अहितकर है।

कई सज्जन कहा करते हैं कि 'अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' आदि वैदिक वाक्यों में मांस और चर्बी से हवन करने का स्पष्ट कथन है। परन्तु जो मनुष्य अन्य प्रकरणों के साथ इस वाक्य का विचार करते हैं तथा यज्ञ के यज्ञपने को समझते हैं वे अन्य ही परिणाम पर पहुँचते हैं। 'छाग्या इदं छागम् पयः' इस प्रकार अर्थ करने से छाग शब्द से उस वाक्य में पयः (दूध) अर्थ लेते हैं। छाग शब्द पयः के अर्थ में प्रयुक्त है जैसा कि चरक में अध्याय २४ में स्पष्ट किया है—

छागं कषाय मधुरं शीतं ग्राहि पयो लघु।
रक्तपित्तातिसारघ्नं क्षय कासज्वरापहम्॥

यहां पर छाग शब्द स्पष्ट पय के लिये प्रयुक्त है स्पष्ट करने के लिये पयः शब्द रख भी दिया है कि कोई कुछ दूसरा अर्थ न लेवे। अतः 'छाग्या इदं छागम् पयः' व्युत्पत्ति करके 'छागस्य हविषः' का अर्थ बकरी के दूध की हवि का ग्रहण करना उचित है। इसी प्रकार यज्ञ की भावना से भावित मनुष्य वपा शब्द का अर्थ भी उदरस्थ चरबी की मोटी तह नहीं ले सकता, किन्तु 'वपति छिनत्ति दोषमारोपयति च बलादिकमिति वपा दुग्धम्' इस प्रकार वपा शब्द से भी दुग्ध का ही ग्रहण

करता है। मेदस् शब्द ञिमिदा स्नेहने धातु के स्नेह अर्थ को प्रकट करता है। इससे यज्ञोपयोगी स्नेहद्रव्य आज्य (घी) का ग्रहण होता है। इस प्रकार इस वाक्य में बकरी का दूध गौ का दूध और घी के हवन करने का ही आदेश है—

भीष्म ने अपने अन्तिम काल में युधिष्ठिर को उपदेश दिया है कि हिंसा यज्ञ का अंग नहीं है—

तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा ।
तपो महत् समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया ॥
अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाऽधर्मस्तथाविधः ।
सत्यन्तेऽहं प्रवक्ष्यामि यो धर्मः सत्यवादिनाम् ॥

महाराज युधिष्ठिर भीष्मपितामह से पूछते हैं कि धर्म तथा सुख के लिये यज्ञ कैसा करना चाहिए। उसके उत्तर में पितामह ने एक तपस्वी ब्राह्मण ब्राह्मणी दम्पती का वृत्तान्त देते हुए बतलाया है कि किस प्रकार उस तपस्वी ब्राह्मण का महान् तप, यज्ञ में पशु बलि देने के लिये एक वन्य मृग को मारने की इच्छा मात्र से विनष्ट हो गया। इसलिये यज्ञ में कभी हिंसा न करनी चाहिए।

किसी समय मनुष्य यज्ञ के साथ पशुवध का सम्बन्ध जोड़ कर मांस भक्षण की अपनी वासना को तृप्त कर लिया करते थे। परन्तु मन में उठते हुए ऐसे वेगों को रोकना चाहिए। यदि उठते हुए प्रत्येक वेग को पूर्ण होने के लिए खुला छोड़

दिया जाय, दूसरों के साथ हमारे अच्छे सलूकों को तोड़ने वाले वेगों का भी यदि विरोध न किया जाय तो संसार में जीवन निर्वाह भी कठिन हो जाय सब एक दूसरे को भेड़िये के समान लगने लगें, मानो खाने के लिये पड़ रहे हों। वेगों को सर्वथा शिथिल छोड़ देने से मनुष्य की इच्छाशक्ति अर्थात् आत्मशक्ति इतनी निर्बल हो जावे कि मनुष्य एक कौड़ी का भी न रहे, बिलकुल निस्सत्व हो जावे। मनुष्य को जो कुछ बल प्राप्त होता है वह आत्म संयम से ही प्राप्त होता है, अपने आपको खुला छोड़ देने से नहीं। विषयों के काबू में न आने से किन्तु विषयों को काबू करने से, दुर्वासनाओं में न फंसने से किन्तु दुर्वासनाओं को वश में करने से, दूसरों के मारने को छोड़ कर अपने मन को मारने से मनुष्य बलवान् बनता है और इसके विपरीत अपने मन पर लगाम न डाल कर खुला छोड़ देने से तथा यज्ञ आदि के बहाने दूसरों की हत्या करने से मनुष्य बलवान् नहीं निर्बल बनता है। इसलिये ऐसे वेगों को रोकने के लिये चरक ने लिखा है—

देह प्रवृत्तिर्या काचिद् वर्तते परपीडया।
स्त्रीभोगस्तेय हिंसाद्याः तस्या वेगान् विधारयेत् ॥

कि स्त्री भोग चोरी हिंसा आदि जो कोई परपीड़ा संबन्धी देह प्रवृत्ति है उसके वेगों को रोकना चाहिए, अर्थात् हिंसा आदि नहीं करनी चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण काण्ड ३ अध्याय १ ब्राह्मण २ कण्डिका २१ में प्रकरण आया है कि दीक्षित पुरुष को शाला में ले जावे।

उसके लिये हिदायत दी है कि गाय बैल का अशन न करे। क्योंकि ये जानवर सब को धारण करते हैं, भरण पोषण करते हैं। देवताओं ने तमाम जानवरों की ताकत गाय बैल में भर दी है। इसी कारण गाय बैल खूब खाते हैं। गाय बैल का खाने वाला मानो सर्वभोजी हो जाता है। गाय बैल ने सबको धारण कर रक्खा है। गाय बैल का खाना ऐसा है जैसे ऐसे मौके पर जब और कोई उपाय नहीं हो सकता अद्भुत रूप से (औपरेशन के द्वारा) उत्पन्न करने के लिये पत्नी के गर्भ को नष्ट कर डाला जाय, पाप कर डाला जावे, इसी प्रकार गाय बैल के अशन को ग्रहण करके प्राणियों के जीवन को हरण करना है। इस विषय में याज्ञवल्क्य महाराज कहते हैं—मैं तो गाय बैल का अशन अवश्य ग्रहण करूं यदि वह असल अर्थात् बलोत्पादक हो।

इस प्रकरण में अनेक लोग कहते हैं, गौ बैल के मांस खाने का निषेध है और याज्ञवल्क्य अपनी सम्मति प्रकट करते हैं कि मैं तो जरूर ही खाऊं यदि बैल मोटा ताजा हो। परन्तु प्रकरण पर अच्छी प्रकार दृष्टिपात करने से मांस निषेध का वा मांस खाने का अर्थात् मांस विषय का कुछ भी सम्बन्ध यहां प्रतीत नहीं होता। गौ बैल का अशन न करे इस कथन से यह निकालना उचित प्रतीत नहीं होता कि गौ बैल के मांस का अशन न करे। गौ बैल के अशन से सिर्फ मांस इसलिये नहीं लिया जा सकता क्योंकि गौ बैल से उत्पन्न होने वाला पदार्थ सिर्फ मांस ही नहीं है प्रत्युत हड्डी, चर्बी, नसें, नाड़ी, गोबर, मूत्र, दूध, दही, मक्खन, घी, रबड़ी, मावा, खीर आदि बहुत कुछ है।

गौ बैल के अशन से कौनसा पदार्थ लिया जाय यह विचार करते हुए जब हम पदार्थों के गुण दोष पर विचार करते हैं तो चरक विमानस्थान १०, ३ में पाते हैं कि पृषध्र यजमान ने यज्ञ में गोवध किया और गोमांस भक्षण से लोगों में अग्निमान्द्य के कारण और तबियत गिर जाने के कारण अतिसार रोग चल पड़ा।

आदि काले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुर्नारम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजमानेन पशूनामलाभाद् गवामालम्भः प्रावर्तितः। तद्दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणास्तेषाञ्चोपयोगादुपकृतानां गवां गौरवाद्चोपहताग्नीनामुपहत मनसामतीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे। च. वि. स्था. १०. ३।

इस कारण यज्ञ में अथवा यज्ञ के बाहर मांस भक्षण तो सर्वथा ही अनुचित है। इसके अतिरिक्त दीक्षित के लिये तो शतपथ ६. २ में स्पष्ट तौर पर मांस भक्षण का निषेध कर दिया है कि दीक्षित मनुष्य न मांस खावे और न मैथुन करे। इन कर्मों के करने से दीक्षित होने का कुछ मतलब ही नहीं रहता।

न मांसमश्नीयात् न मिथुनमुपेयादिति। अनवक्लृप्तं वै तद्यद्दीक्षित उपरि शयीत यन्मांसमश्नीयाद्यन्मिथुनमुपेयादिति॥ श. प. ६. २॥

इस कारण दीक्षा के इस प्रकरण में मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का ग्रहण नहीं किया जा सकता। गौ बैल के अन्य

पदार्थ दीक्षित खावे वा न खावे केवल इतने का विचार रह जाता है। इस विषय में कई आचार्य तो गौ बैल के सभी भक्ष्य पदार्थों का निषेध करते हैं, परन्तु याज्ञवल्क्य अपने दृष्टान्त से कहते हैं कि जो अंसल अर्थात् बलोत्पादक पदार्थ हो उसको खाने में कुछ आपत्ति नहीं है। दूध दही आदि बलोत्पादक मिष्ट पदार्थ खाये जा सकते हैं किन्तु मूत्रादि क्षारीय पदार्थ जो बलोत्पादक नहीं किन्तु शोधक हैं उनको खाना उचित नहीं है। इस कारण याज्ञवल्क्य के इस कथन से. कि 'अश्नाम्येवाहमंसल चेद्भवति' यदि अंसल हो तो मैं अवश्य खाऊं, गौ बैल के मांस का भक्षण निकालना सर्वथा अनुचित है। अग्निहोत्र के सम्बन्ध में महर्षि याज्ञवल्क्य ने जनक के साथ सवाद करते हुए जिन २ द्रव्यों का कथन किया है उनमें मांस का जिक्र जरा भी नहीं किया। यदि वे मांस के प्रिय होते तथा उससे अग्नि-होत्र में आहुति हो सकती है ऐसा समझते होते तो मांस का हवन करके अग्निहोत्र हो सकता है ऐसा अवश्य कहते, किन्तु उन्होंने अग्निहोत्र की अवश्य कर्तव्यता को रखते हुए सब द्रव्यों के अभाव में श्रद्धा में सत्य की आहुति करके ही अग्निहोत्र कर्म की खूबी को जतलाया है। अतः अग्निहोत्र में तथा अन्य यज्ञों में भी मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों की आहुति नहीं है।

अथर्ववेद १०, ५. ३ में स्पष्ट ही कह दिया है कि देवों को दूध घी मधु का सर्वदा उपयोग करना चाहिए।

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये चेमे भूम्यामधि।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पि रथो मधु॥

इस प्रकार अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यज्ञों में गाय के दूध घी आदि पदार्थों का तथा ओषधियों के परम रस मधु का उपयोग करना चाहिए मांस, चर्बी का नहीं।

ओषधीनां वा परमो रसो यन्मधु ॥ श० ११, ५ ॥

अग्निहोत्रोपयोगी द्रव्यों के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्द जी कहते हैं कि सुगन्धि, पुष्टिकारक, मधुर और रोगनाशक चार प्रकार के द्रव्यों को लेकर होम करे।

सुरभीणि सुपुष्टेश्च कारकाणि सितादिकम् ।
द्रव्याण्यादाय जुहुयाच्चतुर्थं रोगनाशकम् ॥

होमपद्धति पं० गङ्गासहाय शर्मा द्वारा प्रकाशित।

१. सुगन्धित—कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेतचन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री, तुलसी, कपूर, कपूरकचरी, जटामांसी (बालछड़), गूगल, धूप, छाल छड़ीला, लौंग, नागरमोथा आदि।

२. पुष्टिकारक—घी, दूध, फल, कन्द, अन्न (चावल, गेहूं, उड़द, जौ)।

३. मिष्टपदार्थ—शक्कर, शहद, छुहारे, दाख आदि।

४. रोगनाशक—गिलोय आदि ओषधियां।

ऋतुओं के अनुसार होम द्रव्य

'होम पद्धति' से ।

वसन्तऋतु में—

शैलेयतालीसपतङ्गद्राक्षालज्जालुकङ्कोलसिताभ्रचीडाः ।
दार्वीगुडूचीतगरागुरुणाकाश्मीरकालिङ्गपलङ्कषाश्च ॥१॥
लताकस्तूरिका शीतम् गन्धकाष्टन्तु पीतकम् ।
चन्दनं जातिपत्री च सरलो मालतीफलम् ॥२॥
पौष्करं पद्मबीजानि कस्तूरी तिक्तदन्तिका ।
मुस्तदारुसितास्फोटा मञ्जिष्टा हैमदुग्धकी ॥३॥
त्वक्पत्रं शङ्खपुष्पीस्यात्कैरातोशीरगोक्षुराः ।
खण्डिकागोघृतंभक्तं संयावर्तु फलानि च ॥
शैव्यस्तु समिधो हव्ये वासन्ते परिकीर्तिताः ॥४॥

छड़ीला, तालीसपत्र, पतङ्ग, मुनक्का, लज्जावन्ती, शीतल चीनी, कपूर, चीड़, देवदारु, गिलोय, तगर, अगर, केसर, इन्द्र जौ, गूगल, लताकस्तूरी (मुश्क दाना), बरबर चन्दन, सर्व चन्दन, पीला चन्दन, जावित्री, सरल, जायफल, पुष्करमूल, कमलगट्टा, कस्तूरी, वनकचूर, नागर मोथा, दालचीनी, विष्णु-कान्ता, मजीठ, गूलर की छाल, तेजपत्र, शंखपुष्पी, चिरायता, खस, गोखरू, खांड, गोघृत, भात, मोहनभोग, ऋतुफल, जांड की समिधा ये वसन्त ऋतु की सामग्री कही है ।

ग्रीष्मऋतु में—

दैत्या विडङ्गघनसारप्रियालगुन्द्राः,
पीताभ वृद्धकतकानि शतावरी च ।

सेव्याऽमृता सरलदारुसिते लवंगम्,
कस्तूरिका सुरभि बर्हिणभूर्जपत्राः ॥१॥
भक्तं पतंगैश्च पवित्रमूले तालीसर जीवपचम्पचाश्च ।
रक्तांग कालाकपि तैलकानि वाह्लीक मांसी जल चन्द्र बालाः॥२॥
खण्डिका समिधः शैव्यो गोघृतं श्वेतचन्दनम् ।
वेदचन्दनमौङ्गानि सुक्कडीरार्तवं फलम् ॥
सुलेमान्यामलके प्रोक्ते उन्नखारव्यन्तथोष्मके ॥३॥

मुरा बायबिडङ्ग, कपूर, चिरौंजी, नागर मोथा, पीला चन्दन, छड़ीला, निर्मली, शतावर, खस, गिलोय, धूपसरल, दालचीनी, लौंग, कस्तूरी, बरबर चन्दन, कालातगर, भोजपत्र, भात, पतंगकाष्ठ, कुशामूल, तालीसपत्र, पद्माख, दारुहल्दी, रक्तचन्दन, मजीठ, शिलारस, केसर, जटामांसी, नेत्रबाला, बड़ी इलायची, खांड, शमी की समिधा, गोघृत, श्वेत चन्दन, वेद चन्दन, मूंग के लड्डू, सुक्कडि चन्दन, ऋतुफल, पिण्डखजूर, आमले, उन्नाव, यह ग्रीष्मऋतु की सामग्री है।

वर्षा ऋतु में—

प्रवरा सार मंगल्या यवाः सुरभिदारुकः ।
तगरं भद्रदारुस्याद्देव धूपश्च छिक्कनी ॥१॥
रालो जातीफलं मुण्डी नारिकेलस्तु निर्मली ।
कस्तूरी पद्मबीजाभ तजपत्रहिमांशवः ॥२॥
वनजा बिल्व सूक्ष्मैला मांसीछिन्नरुहा वचा ।
शौरी बीजं विडंगश्च पद्मनालं तथा मधु ॥३॥
शीततु फलचाम्पेय शखपुष्पस्तु कुङ्कुमम् ।
ब्राह्मी किराततिक्तश्च माषमोदक दीदिवि ॥४॥

खर्जूरो गिरिकर्णी स्यात् पिच्छा गोघृत खण्डिकाः ।
पालाश्यः समिधः प्रोक्ता वर्षासु कालभेदतः ॥५॥

काला अगर, पीला अगर, चीड़, जौ, धूपसरल, तगर, देवदारु, गूगल, नकछिकनी, राल, जायफल, मुण्डी, नारियल, निर्मली, कस्तूरी, मखाने, तजपत्र, कपूर, वनकचूर, बेलगिरी, छोटी इलायची, जटामांसी, गिलोय, वच, तुलसी के बीज, वायविडङ्ग, कमलडण्डी, शहद, श्वेतचन्दन चूरा, ऋतुफल, नाग केसर, शंखपुष्पी, केसर, ब्राह्मी, चिरायता, उड़द के लड्डू, भात, छुहारे, विष्णुक्रान्ता, मोचरस, गोघृत, खांड, ढाक की समिधा यह वर्षा ऋतु की सामग्री है।

शरद् ऋतु में—

श्वेतचन्दनकालीयं रक्तचन्दनगुग्गुलू ।
नागकेशरपृथ्वीके तन्त्रिकोदुम्बरत्वचा ॥१॥
विदारीसन्नकद्रू दौ ब्राह्मीदारुसितामुरा ।
पिच्छापपंटलाहानि पद्मेन्द्रयवरेणुका ॥२॥
हारहूराश्वगन्धाच कोलकं मालतीफलम् ।
तमालपत्रकैरातकुङ्कुमतुण्फलानि च ॥३॥
कस्तूरी सहदेवी स्याद् द्राक्षाऽबीजा तु खण्डिका ।
जटिला विष्णुक्रान्ता च हिमकाकेक्षगोघृतम् ॥४॥
पालाश्यः पायसं लाजा शरद्यथ चतुर्थके ॥५॥

सफेद चन्दन, पीला चन्दन, रक्तचन्दन, गूगल, नागकेसर, बड़ी इलायची, गिलोय, गूलर की छाल, विदारीकन्द, चिरौंजी, ब्राह्मी, दालचीनी कपूरकचरी, मोचरस, पित्तपापड़ा, अगर,

भारंगी, इन्द्रजौ, रेणुका, मुनक्का, असगन्ध, शीतल चीनी, जायफल, पत्रज, चिरायता, केसर, ऋतुफल, कस्तूरी, सहदेवी, किशमिश, खांड, जटामांसी, विष्णुक्रान्ता, कपूर, तालमखाना, गोघृत, ढाक की लकड़ी, धान की खील, खीर। ये शरद् ऋतु में सामग्री विहित हैं।

हेमन्त ऋतु में—

उत्पलं मुशलं गन्धकोकिलावटतिक्तकाः।
सिताभ्रदैत्याद्रवधूगुडूची पटोलपत्राणि गुड त्वचा च।
पद्मा शताह्वा खलु हारहूरा कस्तूरिका गन्धवधूर्जटायुः ॥१॥
अक्षोटरास्नामधुपुष्कराणि काश्मीरतालीसुरकात्मगुप्ताः।
सकण्टका छिन्नरुहा जनी च बादातमज्जा मधुकन्तुदार्वी ॥२॥
कृष्णास्तिला जातिपत्री धात्रीपत्रञ्च रेणुका।
लताकस्तूरिकारक्तसारचूर्णन्तु गोघृतम ॥३॥
कृशराऽलवणा प्रोक्ता नारिकेलफलानि च।
हेमन्ते समिधश्चैत्यः खदिरस्याथवा मताः ॥४॥

कूट, मुसली, गन्धकोकिला, घुड़वच्छ, पित्तपापड़ा, कपूर, कपूरकचरी, नकछिकनी, गिलोय, पटोलपत्र, दालचीनी, भारगी, सौंफ, मुनक्का, कस्तूरी, चीड़, गूगल, अखरोट, रासना, शहद, पुष्करमूल, केसर, छुहारे, गोखरू, कौंच के बीज, कांटेदार गिलोय, पर्पटी, बादाम की गिरी, मुलहठी, देवदारु, काले तिल, जावित्री, तालीसपत्र, रेणुका, मुश्कबाला, लाल चन्दन का चूरा, गोघृत, बिना नमक की खिचड़ी, गोला, आम, खैर की समिधा। यह सामग्री हेमन्त ऋतु में मानी गई है।

शिशिर ऋतु में—

अक्षोटकचूरविडङ्गरालाः तपोधना मोचरसोऽमृता च ।
द्राक्षाद्विजाकृष्णतिला वराङ्गं कस्तूरिका कुङ्कुमचन्दनानि ॥१॥
किराततिक्तः खजूरः तुलसीबीजगुग्गुलू ।
चारुकर्कटशृङ्गी च खण्डिका च शतावरी ॥२॥
दारुहरिद्रा मांगल्य कुसुमा पद्मकन्तथा ।
कृष्णबीजञ्च जटिला भूर्जपत्रञ्च गोघृतम् ॥३॥
यज्ञाग्रयो ह्यथवा वाट्यः संयावः शिशिरे मतः ।
एवञ्चतुर्षु द्रव्यस्यात्कालभेदात् पृथक् पृथक् ॥४॥

अखरोट, कचूर, वायविडङ्ग, राल, मुण्डी, मोचरस, गिलोय, मुनक्का, रेणुका, कृष्णातिल, तज, कस्तूरी, केसर, चन्दन; चिरायता, छुहारे, तुलसी के बीज, गूगल, चिरौंजी, काकड़ा सींगी, खांड, शतावर, दारुहल्दी, शंखपुष्पी, पद्माख, कौंच के बीज, जटामांसी, भोजपत्र, गोघृत, गूलर वा बड़ की समिधा, मोहनभोग। यह सामग्री शिशिर ऋतु के योग्य है।

चार प्रकार के द्रव्यों की विशेषता

(संस्कार चन्द्रिका से)

सुगन्धित द्रव्य—

१. एक समय जब कि मदरास में प्लेग फैल रहा था तो डाक्टर किंग आई. एम. एस. ने हिन्दू विद्यार्थियों को उपदेश दिया था कि यदि तुम घी और केसर से हवन करो तो महामारी का नाश हो सकता है।

२. अगर तगर के विषय में कुछ वर्ष हुए कि सिविल एण्ड मिलिटरी गजट, लाहौर में बंगाल के एक अंगरेज विद्वान् के लेख निकलते थे जिनमें उसने दर्शाया था कि अगर तगर की सुगन्धि से कई प्रकार के विषैले छोटे २ जन्तु वायु में रहने वाले दूर भाग जाते हैं।

३. श्वेत चन्दन का तेल निकाल कर सूजाक तथा आतशक जैसे भयङ्कर रोग रे, उसके विष का निवारण करने के लिये अमरीका के कई डाक्टर तथा भारत के वैद्यादि उपयोग करते हैं। इसी प्रकार जटामांसी, जायफल, जावित्री, कपूरादि जहां सुगन्धित द्रव्य हैं वहां इनका धूम वायु को शुद्ध करता है।

४. बम्बई के प्रसिद्ध मासिक पत्र सत्य में तुलसी के मलेरिया नाशक होने के विषय में एक उत्तम लेख निकला है जिसमें दिखलाया गया है कि—कई वर्ष हुए बम्बई में एंग्लो इण्डियन अधिकारी सरजार्ज वर्डवुड ने टाइम्स में एक पत्र लिख कर प्रकट किया था कि जब बम्बई में विक्टोरिया बाग तथा एलबर्ट संग्रहालय बनाया गया तब मजदूर लोगों को मलेरिया ताप आने लगा। जब बाग के चारों तरफ 'तुलसी' बोने में आई तब शीघ्र ही मलेरिया नष्ट हो गया।

५. पंढरपुर में बिठोबा के मन्दिर के आस-पास की जगह की आरोग्यता का कारण यही है कि उसके चारों तरफ तुलसी का जङ्गल है। 'सत्य' मासिक पत्र जिल्द १ अङ्क ४।

पुष्टिकारक द्रव्य—

६. फल, कन्द, अन्न (चावल, गेहूं, उड़द, जौ), सुग-

न्धित पदार्थ यदि बिना घृत मिलाये अग्नि में जलाये जावें तो उनकी सुगन्धि में तीव्रता और रूखापन अधिक रहने से जुकाम (प्रतिश्याय) आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं। जिस समय सुगन्धित पदार्थ घृत से मिला हुआ जलाया जाता है उस समय जुकाम आदि किसी प्रकार के रोग का भय नहीं रहता और सुगन्धि की तीव्रता मर्यादा में आ जाती है। इसलिये शास्त्रों की आज्ञा है कि सामग्री बिना घृत के मिलाये हवन कुण्ड में न डाली जाय।

७. घी का एक अपूर्व गुण यह है कि यह विषनाशक पदार्थ है जैसा कि सुश्रुत में लिखा है।

८. प्लेग का टीका निकालने वाले डा० हैफकिन का वचन है कि 'घी विषनाशक पदार्थ है यह हमने अनुभव किया है।'

९. घी अग्नि को प्रदीप्त करता है। घी में अग्नि के प्रदीप्त करने की जो शक्ति है वह सब जानते ही हैं। अग्नि जब तक प्रज्वलित न किया जाय तब तक रोग निवृत्ति का पूर्ण साधन नहीं बन सकता। अग्नि को प्रज्वलित करना घी से ही उचित है अन्य तेल आदि पदार्थों से नहीं।

१०. घी के अणु वर्षा बरसाने के अपूर्व साधन हैं। पानी और घी सर्दी से जम जाते हैं और गर्मी से पिघलते हैं। परन्तु पानी से बढ़ कर घी में सर्दी से जम जाने का गुण अधिक है। सर्दी के दिनों में जब पानी नहीं जमता तब घी जम जाता है। अग्निहोत्र में जब घी के अणु सूक्ष्म होकर ऊपर चढ़ते हैं तो वायु में डोलने वाले बादलों के तल के पास ही पहुँच कर स्वयं

जम जाने से उनको जमाने और बरसाने का काम देते हैं। पश्चिम के वैज्ञानिक भी कहते हैं कि बादलों के नीचे भाग में यदि कृत्रिम रीति से सर्दी पहुंचाई जा सके तो बादल बरस सकता है। इसके लिये वे कई प्रकार के पदार्थ उपयोग में लाते हैं किन्तु बादलों के निचले भाग में ठण्ड की जामन लगाने का गुण घी में अधिक है, इसलिये विशेष मात्रा में घी का हवन करने से वर्षा होने में सहायता हो सकती है। दूसरा विशेष गुण घी के हवन करने का यह है कि घी की विघ्नाशक शक्ति का जलों में आधान होता है।

११. घी, दूध, फल, कन्द, चावल, गेहूं, उड़द, जौ आदि अन्न केला, नासपाती, सेब, नारियल, नारियल का घृत, शकरकन्दी, ये सब पुष्टिकारक पदार्थ हैं। इनके जलाने से इनके अणु वायु में फैल कर श्वास के द्वारा फेफड़ों में जाते हैं। फेफड़ों में जाकर सूक्ष्म मात्रा में ही खून के अणुओं में जज्ब हो जाते हैं और शरीर को पुष्ट करते हैं तथा अनेक प्रकार के रोगों की निवृत्ति करते हैं। वायु में सूक्ष्म रूप से फैले हुए ये पदार्थ ओस और वृष्टि के द्वारा भूमि में समा कर भूमि को उपजाऊ बनाते हैं।

मिष्टद्रव्य—

१२. शक्कर, शहद, छुहारे, दाख आदि पदार्थों में मिठास होता है। शक्कर, गुड़, खांड, मिश्री के जलने से मन्द २ सुगन्धि आती है, परन्तु जब इनके साथ घी भी जलता है तो वह गन्ध रोचक और उत्तम प्रकार की हो जाती है।

अमरीका के एक मासिक पत्र में एक विद्वान् ने लिखा था कि आग में शक्कर के जलाने से 'हे फीवर' (घास आदि के सड़ने से उत्पन्न हवा के लगने से उत्पन्न हुआ बुखार का नाश होता है।

रोगनाशक द्रव्य—

१३. गिलोय भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। यह ज्वर के विष का नाश करती है और शरीर को आरोग्य प्रदान करती है। गिलोय का नाम ही अमृता है जिसका अर्थ है रोग दूर करके जीवन प्रदान करने वाली। इसी प्रकार भिन्न २ रोगों के अनुसार अन्य रोगनाशक द्रव्यों को भी हवन के उपयोग में लाया जा सकता है।

१४. बड़ौदा राज्य के सरकारी गजट में राज्य के सुयोग्य डाक्टरों की सम्मति द्वारा नीम के पत्तों की धूनी के लाभों पर प्रजा का ध्यान दिलाया गया है। इसकी धूनी रोग तथा मच्छर आदि को दूर करने वाली है। हवन में इसके पत्ते प्रायः इसलिये नहीं डालते कि इसका धुआं कड़वा होता है।

अग्निहोत्र से स्वास्थ्य लाभ

कई सज्जन कहा करते हैं कि हवन करने से कर्बनिकाम्ल गैस उत्पन्न होती है जो जीवन के लिये हानिकारक है अतः हवन नहीं करना चाहिए। परन्तु ये लोग भूल में हैं। वैज्ञानिकों ने परीक्षण करके सिद्ध किया है कि अग्नि में हवन के योग्य चार प्रकार के द्रव्य मिलाकर जलाने से कर्बनिकाम्ल गैस उत्पन्न नहीं होती, जो गैस उत्पन्न होती है उसका नाम वुडगैस है।

वुड गैस हानिकारक नहीं है कर्बनिकाम्ल गैस हानिकारक है। वुड गैस का साधारण भाषा में हवनगैस कहते हैं।

प्रो० रामशरणदास जी सक्सेना एम. एस. सी. ने कांच की १२ शीशियों को वैज्ञानिक रीति से नितान्त शुद्ध कर लिया। इन शीशियों में से दो दो शीशियों में दूध मांस आदि छः वस्तुएं भरी गईं। छः शीशियां एक ओर कर ली गई और दूसरी छः शीशियां दूसरी ओर। एक ओर वाली छः शीशियों में वैज्ञानिक रीति से हवन गैस पहुंचाई गई और दूसरी ओर की छः शीशियों में उद्यान की शुद्ध वायु भर दी गई। शीशियां बन्द करके रख दीं और नित्य प्रति उनका निरीक्षण करते रहे। जिन शीशियों में उद्यान वायु थी उनमें सड़ाव शीघ्र आरम्भ हुआ और शीघ्रतापूर्वक बढ़ रहा था। इसके प्रतिकूल जिन शीशियों में हवन गैस पहुंचाई गई थी उनमें सड़ाव देर से आरम्भ हुआ और शनैः २ बढ़ रहा था। इससे स्पष्ट हुआ कि हवन गैस शुद्ध ओषाजनयुक्त उद्यान की वायु की अपेक्षा भी सड़ाव को अधिक रोकती है।

किसी औषधि की शक्ति को बढ़ाने के लिये आयुर्वेद में घोटने का नियम है। एक औषधि साधारणतया पिसी हुई एक माशा जो प्रभाव करेगी वह ही औषधि खरल में एक सप्ताह तक बराबर घोटने से इतनी शक्तिशाली हो जावेगी कि उसकी दो रत्ती की मात्रा ही पहिली की अपेक्षा अधिक प्रभाव दिखलावेगी। इसी प्रकार होमियोपैथी में भी औषधियों की पोटैन्सी तैयार की जाती है। औषधि का जितना सूक्ष्म भाग दुग्ध शर्करा

अथवा स्प्रिट में घोटने वा झटका देने से तैयार किया जावेगा उतनी ही अधिक उसकी शक्ति बढ़ जावेगी। इस ढङ्ग से औषधि की भीतरी गुप्त शक्ति उभर आती है। होमियोपैथी की दवा की ऊंची पोटैन्सी की एक मात्रा कई २ मास तक अपना प्रभाव दिखलाती है, जब कि उसी औषधि की नीची पोटैन्सी, जिसकी भीतरी शक्ति कम उभारी गई है, कुछ ही घंटों में अपना प्रभाव समाप्त कर देती है।

भोजन को खूब चबाने से भोजन की गुप्त प्राण शक्ति उभर आती है, जिससे थोड़ा भोजन भी अधिक बलकारी होता है और मल कम बनता है। बिना चबाया हुआ भोजन अधिक मात्रा में खाया हुआ भी अधिक चबाये हुए की अपेक्षा कम बल देता है। प्रत्येक औषधि के ठोस अवयव फैलाने से वह अधिक शक्तिशाली हो जाती है। औषधि को सूक्ष्म करने का—उसके अवयवों को फैलाने का सबसे उत्तम साधन अग्नि है। वर्षों तक औषधि खरल की जावे फिर भी उसके परमाणु इतने नहीं फैल सकते। जितने अग्नि में जलाने से फैल सकते हैं। आप एक मिर्च को अकेले खा सकते हैं। यदि आप उसे खरल में घोटना आरम्भ करदें तो दो चार मनुष्यों पर प्रभाव पड़ेगा, किन्तु यदि आप उसे अग्नि में जलावें तो पचासों मनुष्यों का वहां बैठना कठिन हो जावेगा। इससे सिद्ध है कि अग्नि में जलाने से जितने परमाणु फैल सकते हैं किसी अन्य तरीके से नहीं फैल सकते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हवन के द्वारा चिकित्सा का कार्य किया जावे तो औषधि की शक्ति सहस्रों गुणा अधिक होकर रोगी को लाभ पहुँचावे।

हम लोग फुफ्फुस देखने का यन्त्र (स्टेथस्कोप) जब किसी स्वस्थ कुमार की छाती पर लगाते हैं तो भीतर जाने वाले श्वास का लम्बान बाहर निकलने वाले श्वास की अपेक्षा तीन गुणा अधिक सुनाई देता है। इसका अभिप्राय यह है कि आय अधिक और व्यय न्यून है, किन्तु तपेदिक के रोगी का लम्बान इसके प्रतिकूल होता है। तपेदिक के रोगी में भीतर जाने वाले श्वास का लम्बान कम और बाहिर आने वाले श्वास का अधिक। इससे स्पष्ट होता है कि तपेदिक के रोगी में आय कम और व्यय अधिक है तभी इस रोग का नाम क्षय रोग है।

चिकित्सक का यह प्रयत्न होता है कि उसका रोगी अधिक से अधिक खावे जिससे कि उसके शरीर में अधिक रक्त बने और उसका बोझ बढ़े। परन्तु रोगी में पचाने की शक्ति कहां? ओषजन की न्यूनता से मन्दाग्नि रहने पर न खाने की इच्छा और न पचाने का बल। कोई बलदायक ओषधि वा भोजन दिया जाता है तो कभी तो पच जाता है और कभी दस्त आ जाते हैं। यह ऐसे रोगी के लिये मृत्यु की सूचना समझो।

अनुभवी से अनुभवी चिकित्सक पाचन शक्ति का बिलकुल ठीक अनुमान लगाने में भूल कर सकता है, किन्तु हवन चिकित्सा द्वारा आप पौष्टिक से पौष्टिक भोजन—बादाम, मोहन भोग, खीर, मुनक्का, शतावर आदि—अधिक से अधिक मात्रा में रोगी के शरीर में वैज्ञानिक रीति से पहुंचा सकते हैं। उन वस्तुओं का सार भाग ही रोगी के भीतर पहुँचेगा जो अग्नि से पहिले ही हलका कर दिया है, अतः उससे पाचन

शक्ति पर तो बोझ न पड़ेगा किन्तु श्वासमार्ग के द्वारा रक्त में सूक्ष्म रूप में सीधा पहुँच जाने से रक्त बलवान् बनेगा। इस में विशेषता यह रहेगी कि शरीर की ताकत के अनुसार उचित मात्रा में ही पदार्थ शरीर के अन्दर जावेगा। आप चाहे सारे वायु मण्डल को हवन गैस से भर दीजिए किन्तु रोगी उसमें से उतना ही भाग ग्रहण करेगा जितने भाग की उसे आवश्यकता है। उद्यान की वायु में ओषजन भरा होता है। परिमाण से अधिक ओषजन मनुष्य को भारी हानि पहुँचा सकता है, किन्तु क्या कभी किसी मनुष्य को उद्यान में घूमने से शरीर में ओषजन अधिक पहुँच जाने के कारण हानि होने की शिकायत सुनी है? कारण यह कि परमात्मा ने प्रकृति के भीतर ऐसा प्रबन्ध कर दिया है कि मनुष्य आवश्यकता से अधिक ओषजन ग्रहण ही नहीं कर सकता। इसी प्रकार हवन गैस में से भी रोगी अपनी शक्ति के अनुसार उचित मात्रा में ही पदार्थों का ग्रहण कर सकता है, अनुचित मात्रा में नहीं। अतः हवन चिकित्सा की अपेक्षा अधिक कोई अन्य चिकित्सा क्षय रोग की नाशक नहीं हो सकती।

जिस प्रकार होमियोपैथिक चिकित्सा में समूल औषधि स्प्रिट में गलाई जाती है—कोई भाग फेंका नहीं जाता, इसी प्रकार हवन चिकित्सा में भी औषधि अपने पञ्चाग रूप में पूर्ण काम में आती है। इस प्रकार अग्निहोत्र हवन चिकित्सा के रूप में रोगों को निवृत्त करके मनुष्यों के स्वास्थ्य लाभ के लिये अत्युपयोगी कर्म है।

इसी स्वास्थ्य लाभ के प्रयोजन को ध्यान में रखकर

ऋतुसन्धियाँ में चातुर्मास्य यज्ञ किये जाते हैं। ऋतुसन्धियों में रोग फैला करते हैं।

ऋतुसन्धिषु रोगाः जायन्ते।

मुख्य ऋतु तीन हैं सर्दी, गर्मी, वर्षा। इस प्रकार प्रत्येक चार मास में जलवायु वृष्टि की शुद्धि द्वारा रोगनिवृत्ति के लिये चातुर्मास्य यज्ञ किये जाते हैं। इस प्रकार कार्तिक, फाल्गुन, आषाढ़ ये तीन महीने रोगनिवृत्ति के लिये बृहद्रूप में अग्निहोत्र करने के लिये उत्तम होते हैं। अहोरात्र की सन्धि में किये जाने वाले हवन को अग्निहोत्र कह देते हैं, किन्तु ऋतुसन्धियों में किये जाने वाले विशेष अग्निहोत्र को अग्निहोत्र न कहकर चातुर्मास्य कह देते हैं। इसी प्रकार संवत्सर की दो बड़ी सन्धियों में जब कि दक्षिणायन और उत्तरायण का आरम्भ होता है आग्रयणेष्टि की जाती है। चन्द्रमा के हिसाब से प्रत्येक मास में दो बड़ी सन्धियाँ पूर्णमासी की और अमावस्या की आती हैं। इन सन्धियों में पौर्णमासेष्टि और दर्शेष्टि की जाती हैं। ये सब इष्टियाँ सन्धियों में ही की जाती हैं और अग्निहोत्र का ही विशेष २ रूप है। अग्निहोत्र सब यज्ञों का मुख है--सब यज्ञों को प्रकट करता है। इस प्रकार अग्निहोत्र के स्वास्थ्यजनक रूप को समझते हुए हमें प्रति सन्धि में अग्निहोत्र से लाभ उठाना चाहिए।

हवन की उपयोगिता मैनद्रास के कमिश्नर की साक्षी सैनिटरी

आर्य लोग जो हवन की आवश्यकता दर्शाते हैं वहाँ

पर एक प्रमाण यह भी देते हैं कि प्राणियों के मलमूत्र से दुर्गन्धि उठकर वायु को अशुद्ध कर देती है। उस दुर्गन्धि को आग से दूर करने और आग के द्वारा सुगन्धि फैलाने के लिये जो कार्य किया जाता है वही हवनयज्ञ है। अंग्रेजी पुस्तक 'ब्यूबोनिकप्लेग' पायोनियर प्रेस, प्रयाग से निकली है उसमें लिखा है कि २७ मार्च सन् १८९८ को मद्रास यूनिवर्सिटी के ग्रैजुएट विद्यार्थियों को जनरल किंग आई. एम एस. सैनिटरी कमिश्नर मद्रास ने एक उपदेश दिया था उसका सारांश हेनकिन महाशय ने 'ब्यूबोनिक प्लेग' नामी पुस्तक में उनके ही शब्दों में लिखा है। इस पुस्तक के पृष्ठ १२ पर लिखा है कि महाशय कमिश्नर ने भगवती पुराण (देवी भागवत) का वर्णन करते हुए बतलाया है कि उसमें महामारी का वर्णन है--रोग की दशा में चूहों के गिरने का वर्णन है—और उसके दूर करने के लिये घी, चावल, केसर आदि के हवन का विधान है जिस को 'शान्ति होम' नाम से पुकारा है। इसी प्रकार अन्य कई बातें जैसे धूप बत्ती का जलाना आदि भी लिखा है। उस पुराण के हवन की रीति को वर्णन करते हुए पुस्तक निर्माता ने प्रकट किया है कि हवन की वर्तमान रीति मैडिकल साइन्स के अनुकूल है और लिखा है कि हवन करना लाभदायक और बुद्धिमानी की बात है। इस पुस्तक की भूमिका डब्ल्यू. एम. हैफकिन महाशय बम्बई वाले ने लिखी है। इस पुस्तक के पढ़ने से यह भी ज्ञात होता है कि फ्रांस देश में रूकस महाशय ने जो टीका प्लेग का मादा निर्मित किया था वह अत्यन्त विषैला था, हैफकिन महाशय ने घी में मिलाने से उसका विष दूर कर

दिया है। इस में सुश्रुत के कथन की साक्षी भी डा० हैफकिन की परीक्षा के साथ मिल गयी है कि घी विषनाशक है।

सृष्टि में यह अद्भुत नियम है कि कार्बन डाई आक्साईड (अपान वायु) स्वच्छ वायु के साथ मिला हो तो बीमारी अथवा दोष का कारण नहीं होता। जब वह दुर्गन्धि अथवा सड़ांद के साथ मिला होता है तो उस समय दोष उत्पन्न करता है। महाशय जे० लैन० नाटर, एम० ए०, एम० डी०, आर० एच० फ़र्थ०, एफ० आर० सी० एस० 'हाईजीन' में लिखते हैं कि बहुत काल तक ऐसा कोठरियों में ठहरे रहना जिनमें बहुत से आदमी हों अथवा खिड़कियां पर्याप्त न हों जिन के वायु विशेष दोष युक्त हो उनमें कार्बोनिक एसिड गैस (अपान वायु) अधिक परिमाण में होता है! जिन स्थानों में शिर पीड़ा, मूर्छा, चकराना आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं उनका कारण गरमी अथवा कार्बन डाइऔक्साइड गैस नहीं है। ये दोष वास्तव में वायु के अन्दर औक्सीजन वा प्राणवायु के न्यून हो जाने से तथा मनुष्यादि प्राणियों के उन मलिन अणुओं के वायु में भर जाने से उत्पन्न होते हैं जो अणु फेफड़ों वा त्वचा द्वारा निकलते हैं। ऐसी वायु का दम लेने से, जिसमें मलिन अणु मिले हुए हों, भारीपन, आलस्य शिरः पीड़ा आदि रोग उत्पन्न होते हैं। पशुओं पर जो प्रयोग किये गये उनमें वाष्प और कार्बन डाई औक्साइड को वायु से पृथक् कर लिया गया तो प्रतीत हुआ कि मलिन अणुओं से मुक्त वायु बड़ा विषमय है। इस वायु में चूहा ४५ मिनट में मर गया।"

इस प्रकार सिद्ध होता है कि कार्बन डाई औक्साइड

से भी बढ़कर हानिकारक मलिनता के अणु हुआ करते हैं। इन अणुओं को हल्का कर के दूर २ तक भगा देने में हवन करने अथवा अग्नि के जलाने के सिवाय और कोई उत्तम साधन नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में बतलाया गया है कि अग्नि के जलाने से जीवन के नाश करने वाले राक्षस (वायु में विद्यमान सूक्ष्म कृमि और मलिन अणु) नष्ट हो जाते हैं।

अग्निर्वै रक्षसामपहन्ता।

प्राणवायु का घना रूप ओज़ोन होता है। ओज़ोन प्रायः अपनी विशेष सुगन्ध के कारण पहिचानी जाती है, जिसका अनुभव समुद्र के किनारे प्रायः होता है। उपवन की खुली हवा में भी यह मिलती है। कार्बनिक अम्ल गैस (अपान वायु) जीवन और अग्नि का विघातक है परन्तु ऑक्सीजन (प्राण वायु) और ओज़ोन जीवन और अग्नि का पोषक है। स्वच्छ वायु के १००० भागों में चार भाग कार्बनिक अम्ल गैस के सदैव पाये जाते हैं। ग्रामों की खुली हवा में और पहाड़ियों की चोटियों पर हज़ार भाग वायु में प्रायः तीन भाग ही कार्बनिक अम्ल गैस मिलता है। जब तक वायु के हज़ार भागों में चार भागों से अधिक यह गैस न हो जाय तब तक यह वायु को विषयुक्त नहीं बनाता। लंडन की गलियों में वायु के हज़ार भाग में ३६ भाग इस गैस के पाये जाते हैं। अग्नि में सुगन्धित द्रव्य जलाने से अग्नि के द्वारा कार्बनिक अम्ल गैस वायु में एक स्थान में संचित नहीं होने पाता, मलिन अणुओं के छिन्न-भिन्न हो जाने से वायु निर्मल हो जाता है तथा सुगन्धित

पदार्थों के गन्ध के अणुओं से औक्सीजन उसी प्रकार ओज़ोन में बदलता है जिस प्रकार उपवन की निर्मल वायु में भिन्न २ प्रकार की वानस्पतिक गन्धों के प्रभाव से औक्सीजन ओज़ोन में बदलता है। इस प्रकार अग्निहोत्र के द्वारा वायु निर्मल होता है और प्राणवायु घनीभूत होता है। डा० लैन० नाटर हाइजीन में लिखते हैं कि 'औक्सीजन की एक बदली हुई दशा जो कि वायु मण्डल में थोड़ी थोड़ी पाई जाती है उसका नाम ओज़ोन है। यह बड़ी उपयोगी गैस है एक प्रकार की तीव्र औक्सीजन है। निर्मल वायु में यह बहुत अधिक पाई जाती है। उन स्थानों में जहां पर मनुष्य अथवा पशुओं की मलिनता के अणु बहुत हों वहां यह अत्यन्त न्यून पाई जाती है। जहां पर मनुष्य अथवा पशु बहुत बसे हुए हैं वहां भी कम होती है। जब कभी वायु में बिजली का प्रसार हो तब ओज़ोन पैदा हो जाता है। यही ओज़ोन अग्नि की क्रिया से साधारण औक्सीजन के रूप में बदल जाता है। ओज़ोन की पहचान उसकी गन्ध है जो कि बहुत ही तीक्ष्ण होती है। यदि वायु के पच्चीस लाख भाग हों और उसमें ओज़ोन का एक ही भाग हो तो फिर भी उसकी उपस्थिति प्रकट हो सकती है। जङ्गल के खुले वायु में और समुद्र के वायु में उसकी तीव्रता विशेष प्रतीत होती है।

कर्बनिकाम्ल गैस के विषय में डा० नाटर हाईजीन में लिखते हैं कि "कर्बनिकाम्ल गैस सहस्र भागों में ७५ भाग पाया जावे तो उस समय यह विषरूप हो जाता है। जब वायु के सहस्र भाग पीछे इसके १५ भाग हों तो शिरःपीड़ा, मूर्छा, सिर चकराना, श्वास उखड़ने की बीमारियां पैदा हो जाती हैं।

जब प्रति सहस्र १० भागों तक पाया जावे तब स्वास्थ्य पर कोई विशेष दुष्प्रभाव नहीं दिखाता। जब बहुत परिमाण में हो तब मूर्छा रोग उत्पन्न कर देता है। हम सब इस दुर्गन्धित वायु को जानते हैं जो बिना खिड़कियों के कमरों वा उन कोठरियों से आती है जिन में बहुत से मनुष्य तङ्ग हुए बैठे रहते हैं। जब यह कर्बनिकाम्ल गैस सहस्र भाग पीछे छः दशमलव के परिमाण में हो तो इस के होने का पता तक नहीं लगता, क्योंकि इतना परिमाण वायु के साथ मिलकर प्रतीत होने वाली दुर्गन्धि नहीं बनती इतने परिमाण का होना आवश्यकीय है। यह परिमाण हानिकारक नहीं। जब कर्बनिकाम्ल इस परिमाण से बढ़ जाता है तब साथ के मलिन अणु जो हवा में रहते हैं प्रतीत होने लगते हैं।"

हवन करना विज्ञान सम्मत है। दि इन्डियन रिव्यू के अप्रैल १६१२ के अङ्क ३६५ पर 'होम की सफलता' विषय पर लेख प्रकाशित हुआ था। उसका हिन्दी अनुवाद संस्कार चन्द्रिका से यहां लिखते हैं—

"एक विद्वत्तापूर्ण 'अनिश्चित ज्ञान और पदार्थ विज्ञान' सम्बन्धी लेख ६ सितम्बर के पायोनियर में मुख्य भाग में निकला है उसमें निम्नलिखित वचन हैं—

यह सिद्धान्त कि सार्वजनिक स्थानों में अग्नि जलाने से जन विध्वंस कारक रोग शमन होते हैं ऐसा सिद्धान्त था कि जिसकी नींव साधारण अनिश्चित अवलोकन पर थी। इस का सम्बन्ध मानवीय उन्नति सम्बन्धी एक बड़े प्रसिद्ध आविष्कार से था कि धूनी देने से प्राणियों के शारीरिक पदार्थ विकार

पाने से रुकते है। यह सर्वथा अकस्मात् आविष्कार हुआ केवल हमारे समय में तथा पश्चिम में धैर्यशील प्रयोग से यह बात निश्चित हुई कि धूम का प्रभाव रोगनाशक है, अथवा यूं कहो कि लकड़ी के धूम में कुछ वस्तु है जो विकारोत्पादक जन्तुओं के लिये हानिकारक है। मिस्टर ट्रिलिट ने मालूम किया है कि खास परिमाण में खांड के शीघ्र जलने से 'फार्मिक एल्डीहाइड' गैस उत्पन्न होती है जो रोग के सूक्ष्म जन्तुओं के नाश के लिये प्रबल औषधि है। यह रोग नाशक वस्तु जलाये जाने योग्य लकड़ी के धूम में होती है। एक सेर चीड़ की लकड़ी के धूम में फ़ी सैंकड़ा ३२ अंश, शाहबलूत की लकड़ी में फ़ी सैंकड़ा ३५ अंश, शुद्ध खांड में फ़ी सैंकड़ा ७० अंश और साधारण धूम में फ़ी सैंकड़ा १८ अंश एल्डीहाइड के होते हैं। महामारी के समय जो अग्नि प्रज्वलित की जाती है उसका प्रत्यक्ष प्रभाव शारीरिक तथा रासायनिक होता है, यह प्रभाव उस आध्यात्मिक प्रभाव के अतिरिक्त है जो लोगों को निराशा, भय और आलस्य से बचने के लिये कुछ करना सिखाता है। अतः प्राचीन भारत वासियों का होम करना निष्फल न था।"

अग्निहोत्र सम्बन्धी काष्ठ, समिधा आदि सामान्योपचार

१. यज्ञशाला—शुद्ध पवित्र रमणीय स्थान में सम चौरस वा लम्बी चौरस अग्निहोत्र होमशाला बनावें। गृहनिर्माणशास्त्र (वास्तुशास्त्र) की रीति के अनुसार उस शाला के पूर्व और दक्षिण दिशाओं में एक २ द्वार बनावें। इसको अग्निहोत्रशाला कहते हैं।

शुद्धे रमणीयदेशे समचतुरस्रा दीर्घचतुरस्रा वा अग्निहोत्रहोमशाला कर्तव्या वास्तुशास्त्रोक्तरीत्या। तस्याः प्राच्यां दक्षिणस्यां च दिशि एकैकं द्वारं कार्यं, सा अग्निहोत्रशालेति गीयते ।। श्रौत पदार्थ निर्वचन ।।

२. यज्ञशाला प्रयोजन—यज्ञाग्नि में अत्यन्त वायु आदि का उपद्रव न हो और वेदि में कोई पक्षी किं वा उनकी बीट आदि भी न गिरें।

वाय्वाद्युपद्रवाभावो यज्ञशाला प्रयोजनम् ।
न च व्यादिकृतादोषा भवेयुरिति शोचिता ॥

होमपद्धति ॥

३. यज्ञकुण्ड—दो लक्ष आहुति के लिये छः २ हाथ का समचौरस। लम्बाई चौड़ाई गहराई बराबर। तल की लम्बाई चौड़ाई ऊपर की अपेक्षा चौथाई रहे। एक लक्ष आहुति के लिये चार २ हाथ का सम चौरस इत्यादि पूर्ववत्। ५० हजार आहुति के लिये तीन हाथ का समचौरस। पौन हाथ गहरा। २५ हजार आहुति के लिये दो हाथ का समचौरस। आध हाथ गहरा। १० हजार आहुति के लिये उतना ही जितना २५ हजार के लिये। ५ हजार आहुति तक डेढ़ हाथ का समचौरस। साढ़े ८ अङ्गुल गहरा। यह परिमाण घृताहुति के लिये है। यदि २५०० घी की आहुति हों और २५०० मोहनभोग वा खीर की हों तो दो हाथ का समचौरस और आध हाथ का गहरा बनावें। इस से कम चाहे कितनी ही आहुति देनी हों सवा हाथ समचौरस और इतने ही गहरे कुण्ड से कम परिमाण में कुण्ड न बनावें।

इन कुण्डों के चारों ओर पांच २ अङ्गुल की ऊंची और पांच २ अङ्गुल चौड़ी तीन मेखला बनावे। ये तीन मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर बनानी चाहिएं। (संस्कारविधि स्वामी दयानन्दकृत)।

४. यज्ञशाला पक्की वा कच्ची—यज्ञशाला में मार्जन और गोमय आदि से लेपन करने का विधान है। मार्जन के लिये बुहारी (मार्जनी) से मार्जन करे। यज्ञशाला कच्ची भूमि की बनाने में दो मुख्य अभिप्राय हैं—

क. भिन्न भिन्न समय में भिन्न २ प्रयोजनों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के कुण्डों को खोदने में आसानी रहती है।

ख. सर्वऋतुओं में इस पर बैठने से ताप शीत आदि के कष्ट की निवृत्ति। कच्चे फर्श पर मिट्टी और गोबर मिलाकर लेपन करना चाहिए। हाथी, ऊंट, घोड़े, गधे की लीद में चिकनाहट नहीं होती अतः इसे मिट्टी में नहीं मिलाना चाहिए। भैंस के गोबर को मिलाने से लेपन टिकाऊ कम होता है तथा पिस्सू बहुत बढ़ जाते हैं। इसलिये गाय बैल के गोबर को मिट्टी में मिलाकर लीपना चाहिए। इसके गोबर में अन्य पशुओं की अपेक्षा गन्ध भी कम है।

५. कुण्ड को चारों ओर से हल्दी, कुङ्कुम और मैदा की रेखाओं से भूषित करना चाहिए। हल्दी, चूना और नींबू का रस मिलाने से कुंकुम बनता है। सब से बाहर की रेखा हल्दी की, उसके भीतर की कुंकुम की, और उसके भी भीतर मैदा

की रेखा होना ठीक है। इससे चींटी तथा कृमियों से बचाव रहता है।

६. यज्ञ समिधा—जो लकड़ी जलने में अधिक धुआं और दुर्गन्धि न दे वही लकड़ी यज्ञ समिधा का काम उत्तम प्रकार से दे सकती है। जैसे पलाश, शमी (जंड), पीपल, बड़, गूलर, आम, बिल्व। बादाम की लकड़ी, शाहबलूत (ओक) की लकड़ी, लैवेन्डर की लकड़ी, यूक्लिप्टिस की लकड़ी, चन्दन, सरल, साल देवदारु, खैर इत्यादि समिधायें कीड़ों की खाई हुई और मैली न हों।

कई आचार्य चिरचिटा, दूब और कुश भी डालना उत्तम समझते हैं।

७. समिधा परिमाण—अंगूठे से अधिक मोटी तथा पतली समिधा न हों। बक्कल उतरी हुई न हों, कीड़े लगी न हों, छेद वाली खोखली न हों, फटी हुई न हों, दो शाखा वाली न हों, पत्तों वाली न हों, निस्सार न हों, परिमाण में आठ अङ्गुल हों।

नांगुष्ठादधिका कार्या समित् स्थूला तथा क्वचित्।
न वियुक्ता त्वचा चैव न सकीटा न पाटिता ॥
प्रादेशान्नाधिका न्यूना न तथा स्याद् द्विशाखिका।
न सपर्णा न निर्वीर्या होमेषु च विजानता ॥

छन्दोग परिशिष्ट ॥

जो समिधा विशीर्ण, बिना बक्कल की, अति छोटी, टेढ़ी,

बोझी, सींक सी पतली, वेदि के परिमाण से लम्बी, अति मोटी और घुनी हुई समिधा यज्ञ सिद्धि में अयोग्य हैं।

विशीर्णा विदला ह्रस्वा वक्राः स सुषिराः कृष्णाः।
दीर्घाः स्थूला घुणैर्जुष्टाः कर्मसिद्धिविनाशिकाः॥

मरीचिः॥

८. कुण्ड के अभाव में वेदी (स्थण्डिल) निर्माण—मिट्टी से बनाया हुआ समचौकोण प्रत्येक दिशा में आठ अङ्गुल विस्तार वाला वा होमानुसार उससे अधिक हो पर न्यून न हो चार अङ्गुल ऊंचा हो, बीच में ऊंचा हो उसे स्थण्डिल कहा जाता है।

मृदा निर्मितं समचतुरस्रं प्रतिदिशमष्टांगुल विस्तृतं होमानुसारेण ततोऽधिकं वा न तु ततो न्यूनं चतुरंगुलोच्च मध्योन्नतं स्थण्डिलमित्युच्यते।

(श्रौतपदार्थ निर्वचन)।

९. यज्ञशाला में कुण्डस्थापन—चींटी आदि जन्तुओं के हटाने के लिये तथा यज्ञशाला के मार्जनादि के लिये कुशा रखनी चाहिए।

पिपीलिकादि जन्तूनां वारणाय कुशास्थितिः।
यज्ञशाला मार्जनादिकल्पा च सुधिया धिया॥

आहिताग्नि की विशेषता

जो मनुष्य संसार में अग्नि का आधान करता है—लोगों के सामने किसी ऊंचे आदर्श की स्थापना करता है, अथवा पूरा करने के लिये किसी कार्यक्रम (प्रोग्राम) को सामने रखता है—उस मनुष्य को सब से प्रथम स्वय उस कार्य के करने में युक्त होना पड़ता है। दृढ़ता के साथ उस कार्य में उस मनुष्य को लगा हुआ देख कर अन्य मनुष्य भी उसकी सहायता के लिए खड़े हो जाते हैं। जो मनुष्य कार्य को आरम्भ करने में स्वयं ढील दिखलाता है उसका कार्य पूरा नहीं होता और न उसे सहायक प्राप्त होते हैं। कार्य के अन्दर दृढ़ता उसके सत्य-भाव को प्रकट करती है। सत्यभाषणादि उसका व्यवहार उसको इस प्रकार तेज कर देता है, इस प्रकार चमका देता है, जिस प्रकार जलती हुई आग में छोड़ा हुआ घी उस आग को प्रदीप्त और चमकीला कर देता है। इस प्रकार उस मनुष्य का तेज दिन प्रतिदिन बढ़ता है, प्रतिदिन वह प्रशंसनीय होता जाता है। इसके विपरीत जो मनुष्य कर्तव्य कर्म के रूप में किसी विचार को उपस्थित करके स्वयं उस विचार के अनुकूल आचरण नहीं करता प्रत्युत उसके विपरीत आचरण करता है वह मनुष्य झूठा कहलाता है उसका विश्वास कोई नहीं करता। झूठ बोलने वाले का काम ऐसा ठण्डा पड़ जाता है जैसे जलती आग पर पानी डाल देने से वह ठण्डी पड़ जाती है। उस मनुष्य का तेज (प्रभाव) दिन प्रतिदिन घटता जाता है। वह प्रतिदिन निन्दनीय होता जाता है, लोगों की नजरों में गिर जाता है। इस कारण

जो मनुष्य अग्न्याधान करता है और अग्निहोत्र करता है उसको चाहिए कि हमेशा सत्य ही बोले, सत्य ही आचरण करे। इस ही विषय में उपवेश के लड़के अरुण को उसके कुटुम्बियों ने कहा कि आप बूढ़े हो गये हो अग्नि का आधान करो। अरुण उनको कहने लगा कि इस प्रकार मत बोलो, चुप रहो, आहिताग्नि को अनृत नहीं बोलना चाहिए, बेशक वह कभी न बोले हमेशा चुप रहे परन्तु झूंठ कभी न बोले, क्योंकि आहिताग्नि का सत्य ही उपचार है। संसार में कष्ट सहते हुए भी सत्य को न छोड़ना यह आहिताग्नि की ही विशेषता है। जो मनुष्य संसार के सामने सत्य बोलने वा सत्य पर आरूढ़ रहने की अपनी मिसाल को रखता है वह मनुष्य ऐसी मिसाल रखने से आहिताग्नि हो है उसने सत्य परिपालन की अग्नि का आधान किया है। वह मनुष्य श्रद्धा के बल पर सत्य में आरूढ़ हुआ २ पक्का अग्निहोत्री है।

तस्य वा एतस्याग्न्याधेयस्य सत्यमेवोपचारः। स यः सत्यं वदति यथाऽग्निं समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्चेदेवं हैनं स उद्दीपयति; तस्य भूयोभूय एव तेजो भवति, श्वः श्वः श्रेयान्भवति। अथ योऽनृतं वदति यथाऽग्निं समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेदेवं हैनं स जासयति, तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति, श्वः श्वः पापीयान्भवति। तस्मादु सत्यमेव वदेत्॥ श० ब्रा० २. २. २. १९॥

तदु हाप्यरुणमौपवेशिं ज्ञातय ऊचुः—स्थविरो वा

अस्यग्नी आधत्स्वेति । स होवाच ते मैतद्ब्रूथ, वाचंयम एवैधि, न वा आहिताग्निनाऽनृत वदितव्यं, न वदन्जातु, नानृतं वदेत्, तावत्सत्यमेवोपचार इति ॥

श० ब्रा० २. २. २. २० ॥

११. दीक्षित मनुष्य चाहे किसी वर्ण का हो वह ब्राह्मण हो जाता है—जो मनुष्य दीक्षा कर्म को समाप्त करके दीक्षित बन जाता है उस समय उसे एक मनुष्य तीन बार कहता है कि 'दीक्षित हुआ यह ब्राह्मण, दीक्षित हुआ यह ब्राह्मण, दीक्षित हुआ यह ब्राह्मण ।' जिसके विषय में इस प्रकार कहता है वह तो अपने आपको जानता ही है कि वह दीक्षित हुआ ब्राह्मण है. परन्तु वह अन्य विद्वानों को उसके दीक्षित होने और ब्राह्मण हो जाने की खबर देता है । विद्वानों को इस प्रकार खबर देकर वह यह बतलाना चाहता है कि यह बड़ा भाग्यवान् तथा शक्तिशाली है जो ब्रह्म यज्ञ में सम्पन्न हुआ है । अर्थात् ब्राह्मणों के संगठन में आया है । वेद विद्या के द्वारा सब की रक्षा करने वाले हे ब्राह्मण लोगो ! यह तुम्हारे अन्दर शामिल हो गया है इसको अपने अन्दर मिला लो, इसको अपने में रख लो ।

अथैक उद्वदति—दीक्षितोऽयं ब्राह्मणो दीक्षितोऽयं ब्राह्मण इति । निवेदितमेवैनमेतत्सन्तं देवेभ्यो निवेदयति—अयं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति, अयं युष्माकैकोऽभूत्तं गोपायतेत्येवैतदाह । त्रिकृत्व आह, त्रिवृद्धि यज्ञः ।

॥ श० ब्रा० ३. २. १. ३९ ॥

उसको ब्राह्मण कहने का यह मतलब है कि दीक्षित होने के पहिले मनुष्य की पहिचान स्पष्ट नहीं होती है। ऐसा कहते हैं कि राक्षस (वैकारिक वृत्तियां) स्त्री के पीछे लग जाते हैं और वैकारिक मनोवृत्तियों से युक्त मनुष्य जो अपनी दुर्वृत्तियों के कारण राक्षस कहलाने योग्य हैं वे ही रेतस् (वीर्य) का आधान करते हैं। इस प्रकार वैकारिक मनोवृत्तियों के द्वारा स्त्री में वीर्य का आधान होने से निश्चित नहीं कहा जा सकता कि कौन मनुष्य क्या उत्पन्न होता है। परन्तु इस दीक्षा कर्म से तो निश्चित ब्राह्मण ही तैयार होता है। ब्रह्म यज्ञ से तैयार होता है इसलिये ब्राह्मण ही होता है। इस कारण दीक्षित होने से पहिले चाहे क्षत्रिय हो चाहे वैश्य हो कोई हो दीक्षित होने के बाद उसे ब्राह्मण ही कहा जाय क्योंकि ब्रह्म-यज्ञ से उत्पन्न हुआ है।

अथ यद् ब्राह्मण इत्य ह। अनद्धेव वा अस्यातः पुरा जानं भवति। इदं ह्याहू रक्षांसि योषितमनुसचन्ते, तदुत रक्षांस्येव रेत आदधतीति। अथात्राद्धा जायते यो ब्रह्मणो यो यज्ञाज्जायते। तस्मादपि राजन्य वा वैश्य वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते ॥

श० ब्रा० ३, २ १. ४० ॥

ब्रह्म ह्यग्निः, अग्निः ब्राह्मण। ब्रह्मण अग्निना जातः ब्राह्मणः अग्निः। ऋक् यजुः साम रूप से अग्नि त्रिविद्या है। त्रिविद्या ही वेद है, ब्रह्म है, अग्नि है। त्रिविद्या सम्पन्न होना अग्नि सम्पन्न होना है। अग्नि का आधान करता हुआ यजमान कर्म विशेष

के त्रिविद्या रूप का आधान करता है। त्रिविद्या रूप में वपन किया हुआ बीज त्रिविद्या रूप में ही फलीभूत होता है। इसलिये त्रिविद्या ब्रह्म से उत्पन्न हुआ ब्राह्मण ही हो सकता है दूसरा नहीं। इसलिये ब्रह्म से संस्कृत हुआ २ चाहे क्षत्रिय हो, वैश्य हो, कोई हो उसे ब्राह्मण ही कहना चाहिए।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक् आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजा ॥ मनुः ॥

अग्नि में समय के अनुकूल ठीक प्रकार से डाली गई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है। आदित्य से वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है। अन्न से प्रजा होती है। मनु के इस वचन को सुन कर सज्जन प्रायः इस सन्देह में पड़ जाते हैं कि अग्नि में डाली गई आहुति आदित्य को अर्थात् सूर्य को कैसे प्राप्त होती है। परन्तु चूंकि अगले वाक्य में कहा है वृष्टि आदित्य से होती है। अतः समझना चाहिए कि वृष्टि जिससे होती है उसी के पास आहुति पहुँचती है। इस बात को सब स्वीकार करते हैं कि वृष्टि मेघों से होती है बिना मेघ के वृष्टि नहीं होती। इसलिये यहां पर आदित्य शब्द से मेघ का ग्रहण करना उचित है। द्युलोक में विद्यमान सूय का नहीं। मेघ का दूसरा नाम पर्जन्य है। बारह आदित्यों में से एक आदित्य पर्जन्य है। इस प्रकार जब कहीं यह कहा जाता है कि आदित्य से वृष्टि होती है तब उसका अथ समझना चाहिए कि पर्जन्य से वृष्टि होती है। इसी के सम्बन्ध से यह स्वीकार करना पड़ता है कि अग्नि में डाली हुई आहुति आदित्य (पर्जन्य) को प्राप्त होती है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक् गादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ मनु० अ०३

अग्नि में समय के अनुकूल ठीक प्रकार से डाली गई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है। आदित्य से वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है। अन्न से प्रजा होती है।

यहां पर आदित्य शब्द से. १२ आदित्यों में से. पर्जन्य आदित्य का ग्रहण है। अग्निहोत्र कर्म में अग्नि में डाली गई आहुति सूक्ष्म होकर पर्जन्य (मेघ) को प्राप्त होती है। पर्जन्य से वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।

वह शक्ति जो मेघों को बरसाती है और मेघों में रहती है वह पर्जन्य नाम का आदित्य है। उस पर्जन्य आदित्य के सम्बन्ध से मेघ भी पर्जन्य कहलाते हैं।

अग्निहोत्र में कर्मों का क्रम

१. कुण्ड वा स्थण्डिलनिर्माण—कुण्ड की लम्बाई और चौड़ाई बराबर रखनी चाहिए, जितनी लम्बाई वा चौड़ाई रखी हो उतनी ही गहराई रखनी चाहिए, कुण्ड के तले की लम्बाई वा चौड़ाई ऊपर की लम्बाई वा चौड़ाई से चौथाई होनी चाहिए, कुण्ड तीन मेखलाओं से घिरा होना चाहिए, पहली मेखला भूपृष्ठ से चार अंगुल ऊंची रखनी चाहिए, दूसरी पहली से चार अंगुल ऊंची और तीसरी दूसरी से चार अंगुल ऊंची रखनी चाहिए, इस प्रकार कुण्ड को गोबर और मट्टी से लीप पोतकर तैयार करना चाहिए, सब से नीचे की मेखला

के चारों ओर तीन अंगुल चौड़ी और चार अंगुल गहरी परिख (खाई) बनानी चाहिए,

जहां इस प्रकार का कुण्ड निर्माण करने की सुविधा न हो वहां तांबे का बना हुआ इसी प्रकार का कुण्ड लेकर कार्य करना चाहिए!

कुण्ड का निर्माण वा उपलब्धी न हो सके तो स्थण्डिल निर्माण करना चाहिए, उस पर अग्न्याधान करना चाहिए ।

किसी नोकीले खोदने के साधन से भूमि को खोदकर साफकर के उस खुदे हुए, स्थान में जल, चिकनी काली मिट्टी, चूना, चूहों की खोदी हुंई मिट्टी और रेत इन पांच वस्तुओं को अच्छे प्रकार एक जान करके, भर देना चाहिए। सम चौरस पक्का तैयार करके उस पर सूखे काष्ठ रखकर उन में जलती हुई अग्नि को 'भूर्भुवः स्वः' इन पांचों अक्षरों को बोल कर, आधान करे स्थापन करे रखे ।

कुण्ड में भी इसी प्रकार काष्ठ रखकर अग्न्याधान करे। किसी सद्गृहस्थ के घर से अग्नि ले आना चाहिए अथवा अपनी कभी न बुझती हुई सुरक्षित अग्नि में से अग्नि लाकर स्थापन करनी चाहिए। अथवा घी का दीवा जलाकर उससे कर्पूर में अग्नि लेकर स्थापन करना चाहिए अथवा घी के दीवे से रुई की बत्ती में अग्नि लेकर स्थापन करना चाहिए, इस प्रकार प्रथम कर्म अग्न्याधान कर्म है।

२. अग्न्याधान के पूर्व ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना, स्वस्ति वाचन और शान्ति प्रकरण अनुकूलता उत्पन्न करने के लिये कर ही लेना होता है।

३. 'भूर्भुवः स्वः' ये पांच अक्षर बोल कर अग्नि रखकर इस अग्न्याधान कर्म की स्तुति करे अथवा स्तुति करके अग्नि स्थापन करे ।

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा तस्यास्ते पृथिवि देवयजनी पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्याया-ऽऽदधे ॥

भूः भुवः स्वः ये तीन शब्द पृथिव्यादि तीन लोकों के नाम हैं, इनका उच्चारण करके अग्नि का स्थापन करता हुआ यज्ञकर्ता तीनों लोकों के स्वरूप का स्मरण करता है, अग्निपात्र को किसी साधन से वा जलती लकड़ी के पूर्वार्ध को पकड़ कर कहता है हे (देवयजनि) देव जिस पर यजन करते हैं ऐसी तू! हे (पृथिवी) पृथिवी! (तस्याः) उस देवयजन के योग्य (ते) तेरे (पृष्ठे) ऊपर (अन्नादम्) हवन किये पदार्थ को खाने वाले (अग्निम्) अग्नि को (आदधे) स्थापन करता हूँ (अन्नाद्याय) इसलिये कि खाने योग्य अन्न की प्राप्ति हो सके, जो अग्नि (भूम्ना) विविध रूप के कारण (द्यौरिव) नक्षत्रादि के बहुत्व से युक्त द्यौः के समान है और जो अग्नि (वरिम्णा) सर्व वस्तुओं का शोधक होने से श्रेष्ठता के कारण (पृथिवीव) सर्व प्राणियों का आश्रय रूप श्रेष्ठ पृथिवी के समान है ऐसी अग्नि को मैं (आदधे) स्थापन करता हूँ ।

४. अग्न्याधान के पश्चात् अग्नि समिन्धन कर्म है—अग्नि समिन्धन के लिये घी में भिगोकर तीन समिधा स्थापित अग्नि पर रखनी होती हैं ।

पहली समिधा—

अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे इदन्नमम ॥

हे (जातवेदः) सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान अग्ने ! (अयम्) यह (इध्मः) काष्ठ वा समिधा (ते) तेरा (आत्मा) आत्मा है, स्वरूप है (तेन) उस समिधा के द्वारा (इध्यस्व) प्रदीप्त हो (च) और (वर्धस्व) वृद्धि को प्राप्त हो तथा (अस्मान्) हमको (इद्ध) दीप्तकर (वधय) बढ़ा और (प्रजया) उत्तम सन्तति के द्वारा (पशुभिः) पशुओं क द्वारा (ब्रह्मवर्चसेन) विद्या के तेज द्वारा (अन्नाद्येन) उत्तम खाने योग्य अन्न द्वारा (समेधय) हमारी वृद्धि कर। (इदम्) यह वृद्धि (जातवेदसे अग्न्ये) जातवेदा अग्नि के लिये हो (इदम्) यह वृद्धि (मम मेरे अपने लिये (न) न हो। इसके पश्चात् स्वामी दयानन्द ने संस्कारविधि में तीन मन्त्र दो समिधाओं के लिये लिखे हैं। उन तीन मन्त्रों में से पहले दो मन्त्रों से दूसरी समिधा रक्खी जाती है और तीसरे मन्त्र से तीसरी समिधा रक्खी जाती है।

पुरानी पद्धति में 'अयन्त इध्म आत्मा०' मन्त्र से समिधा नहीं रखी जाती किन्तु अन्य तीन मन्त्रों में से प्रत्येक से एक-एक समिधा रखी जाती है, पुरानी पद्धति इस प्रकार है—

अमावस्या में अग्न्याधान किया जाता है, अग्न्याधान करने के पश्चात् उस अग्नि में समिधा रखनी होती है तो प्रथम चार ऋत्विजों के खाने लायक भात पकाकर उसे किसी चौड़ी

थाली में निकाल लेते हैं, फिर उस भात के मध्य में गढ़ा करते हैं, उस गढ़े को घी से भर देते है, उस घी में पीपल की तीन समिधा भिगोते हैं फिर 'शमी गर्भमेतदाप्नुमः' अर्थात् इस घी को हम शमीगर्भ (अग्निगर्भ) वाला कर लेते हैं ऐसा कहते हुए एक-एक समिधा को एक-एक मन्त्र से अग्नि में रखे, वहां पर कार्यकर्ता ऋत्विजों को कहता है—

हे ऋत्विजो तुम

समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
अस्मिन् हव्या जुहोतन ॥१॥

(समिधा) काष्ठ द्वारा (अग्निम्) अग्नि की (दुवस्यत) सेवा करो, फिर (घृतैः) हवन किये जाने वाले पूर्णाहुति संबन्धी घृतों से आतिथ्य कर्म करते हुए (अतिथिम्) पूजनीय इस अग्नि को (बोधयत) प्रज्वलित करो, (अस्मिन्) प्रज्वलित इस अग्नि में (हव्या) नानाविध हवि द्रव्यों को (आजुहोतन) हवन करो ॥१॥ इस मन्त्र से एक समिधा अग्नि में रखी जाती है, इसी प्रकार हे ऋत्विजो तुम—

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ।
अग्नये जातवेदसे ॥२॥

(सुसमिद्धाय) अच्छे प्रकार प्रज्वलित (शोचिषे) चमत्कार (जातवेदसे) ज्वाला युक्त (अग्नये) अग्नि के लिये (तीव्रम्) संस्कार युक्त (घृतम्) घृत को (जुहोतन) हवन करो ॥२॥

इस मन्त्र से एक समिधा अग्नि में रखी जाती है, परन्तु स्वामी दयानन्द के अनुसार ये दोनों मन्त्र बोलने के पश्चात् दोनों मन्त्रों से दूसरी समिधा रखी जाती है, अग्नि के प्रति अब कहते हैं—

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥३॥

हे (अङ्गिरः) अङ्गिरः अग्ने ! (तम्) उस (त्वा) तुझको समिद्भिः) यज्ञ सम्बन्धी काष्ठों से (घृतेन) संस्कार किये गये घृत से (वर्धयामसि) बढ़ाते हैं, हे (यविष्ठ्य) युवतम अर्थात् संश्लेषण मिलाने और विश्लेषण अलग करने के कार्यों में उत्तम अग्ने ! वह तू (बृहत्) अधिक खूब (शोचा) चमक ॥३॥

"अङ्गिरा उ ह्यग्निः" इस श्रुति से अङ्गिरा शब्द से अग्नि का ग्रहण है, इस मन्त्र से तीसरी समिधा अग्नि में रखी जाती है।

इसके पश्चात् प्राचीन पद्धति में अग्नि को देखते हुए नीचे लिखे मन्त्र का जप करना होता है, स्वामी दयानन्द ने ऐसा कुछ नहीं लिखा वह मन्त्र इस प्रकार है—

उप त्वाग्ने हविष्मति घृताचीर्यन्तु हर्यत ।
जुषस्व समिधो मम ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (हविष्मतीः) हवियुक्त (घृताचीः) घृत में भीगी हुई (समिधः) समिधायें (त्वा) तुझको (उपयन्तु) प्राप्त हों, हे (हर्यत) इच्छा करने वाले अग्नि ! तू (मम) मेरी

(समिधः) समिधाओं को (जुषस्व) स्वीकार कर। प्राचीन पद्धति में सर्पराज्ञी कद्रू से देखे गये तीन मन्त्रों द्वारा, अग्नि को आहित करने के पश्चात्, अग्नि का उपस्थान किया जाता है। इस उपस्थान में आहवनीय, दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य अग्नियों की स्तुति की जाती है। पश्चात् अग्नि समिन्धन होता है। स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति में उपस्थान नहीं है। सर्पराज्ञी कद्रू पृथिव्यभिमानी है। उस से देखा गया तीन ऋचाओं का समूह सार्पराज्ञी कहलाता है। पृथिवी का वक्र होकर सूर्य के चारों ओर भ्रमण करने से पृथिवी सर्पराज्ञी है। उसी विज्ञान का इन ऋचाओं में वर्णन है। वे मन्त्र इस प्रकार हैं—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।
पितरञ्च प्रयन्त्स्वः ॥१॥

भिन्न भिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने वाले रसायन वैज्ञानिक अग्नि से और सूर्य की किरणों से काम लेते हैं तो उनके कार्यों में लाल श्वेत नीली पीली आदि विविध ज्वालायें प्रकट होती हैं। इसी विविधता के कारण कहते हैं—

(पृश्निः) विविध वर्णों वाला (अयम्) यह प्रत्यक्ष (गौः) सूर्यस्थ अग्नि ने आहवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि स्थानों में (आ) चारों ओर (अक्रमीत्) पदारोपण किया है, और (पुरः) प्राची दिशा में (मातरम्) पृथिवी पर (प्रयन्) संचार करता हुआ आहवनीय रूप को प्राप्त हुआ है, और आदित्य रूप से (स्वः) स्वर्ग में संचार करता हुआ (पितरम्) द्युलोक को भी प्राप्त हुआ है।

'द्यौः पिता पृथिवी माता' यह वचन अनेक बार सुना जाता है। यहां ऐसा समझना चाहिए कि पिण्ड पृथिवी के जिस भाग में सूर्य का तेज फैलता है वह प्राची दिग्भाग है। वही भाग सूर्य के तेज से मिला हुआ होने से आहवनीय रूप से कहा जाता है। पृथिवी के इस प्रकाशमान् भाग का ठीक उतना ही विपरीत भाग गार्हपत्य नाम से कहा जाता है। इन दोनों भागों के बीच का जो भाग है वह आन्तरीक्ष्य अग्नि वा दक्षिणाग्नि कहा जाता है।

आदित्य रूप से अग्नि की स्तुति करके वायु रूप से करते हैं—

अन्तश्चरति रोचनाऽस्य प्राणादपानती।
व्यख्यन्महिषोदिवम् ॥२॥

(अस्य) इस अग्नि की (रोचना) वायु नाम की कोई शक्ति सब शरीरों में (प्राणत्) प्राणव्यापार के अनन्तर (अपानती) अपान व्यापार करती हुई (अन्तः) द्यावा पृथिवी के मध्य में (चरति) संचार करती है। इस प्रकार वह यह (महिषः) महान् अग्नि अपने शक्तिरूप वायु आदित्य से इस जगत् का अनुग्रह करके अनुष्ठाताओं के लिये (दिवम्) द्युलोक को (व्यख्यत्) विशेष प्रकाशित करती है।

शरीर में जाठराग्नि है, इसी के कारण जीवन का हेतु उष्णता शरीर में बनी है, यह ही प्राण और अपान का प्रवर्तक है, इसी कारण अग्नि प्राणापान रूप है।

"अन्तरिक्षेऽयं तिर्यङ् वायुः पवते" इति श्रुतिः
"अग्निर्वै महिषः स इदं जातो महान्" इति श्रुतिः।

त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते।
प्रतिवस्तो रह द्युभिः ॥३॥

(त्रिंशद्धाम) अहोरात्र के तीस मुहूर्त धाम होते हैं उनमें जो वाक् (विराजति) विराजमान् है वह (पतङ्गाय) अग्नि के लिये (धीयते) उच्चारण की जाती है, और (प्रतिवस्तोः) प्रतिदिन (द्युभिः) याग पारायण आदि उत्सव रूप दिनों से स्तुतिमयी वह वाक् अग्नि के लिये ही होती है अन्य किसी देवता के लिये नहीं।

अग्नि को पतङ्ग इसलिये कहते हैं कि वह अरणियों से गिरकर गार्हपत्य रूप को धारण करता है और वहां से गिर कर आहवनीय हो जाता है, अग्नि समिन्धन के पश्चात् अग्नि प्रदीप्त कर्म है। इस कर्म में 'अयन्त इध्म०' इस मन्त्र को ५ बार बोल कर क्रमशः पांच घी की आहुति दी जाती हैं।

अग्नि प्रदीपन कर्म के पश्चात् अग्नि रक्षण कर्म है। इस कर्म में कुण्ड के चारों ओर बनी हुई परिखा (नाली) में पानी डाला जाता है। पूर्व दिशा में 'अदिते अनुमन्यस्व' इस मन्त्र को बोलकर पानी डालते हैं हे (अदिते) दिव्य गुणों की जननी ! (अनुमन्यस्व) तू अनुमत हो हम में दिव्यगुण उत्पन्न कर। फिर पश्चिम दिशा में 'अनुमते अनुमन्यस्व' इस मन्त्र को बोल कर पानी डालते हैं, हे (अनुमते) अनुकूलता उत्पन्न करने

वाली शक्ति ! (अनुमन्यस्व) तू हमें अनुकूल होने की शक्ति प्रदान कर। फिर उत्तर दिशा में 'सरस्वत्यनुमन्यस्व' यह मन्त्र बोलकर पानी डाला जाता है। हे (सरस्वति) सरस्वती ! वाग देवते (अनुमन्यस्व) तू ज्ञान व्यवहार के लिये हमारी वाणी को समर्थ कर। फिर दक्षिण दिशा में और कुण्ड के चारों ओर। (पुरानी पद्धति में कुण्ड के चारों ओर पानी डालने का कोई निर्देश नहीं है।) इसके पश्चात् चार मन्त्रों से घी की चार आहुतियां अग्नि में डाली जाती हैं। 'अग्नयेस्वाहा' मन्त्र से, पूर्वाभिमुख बैठा हुआ अग्निहोत्री, उत्तर दिशा में आहुति डालता है। (अग्नये) जीवन को आगे बढ़ाने वाले अग्नि के लिये (स्वाहा) यह मेरा त्याग है। (इदमग्नये) यह अग्नि के लिये अर्पण है (इदम् न मम) यह मेरा नहीं है। फिर दूसरी घी की दूसरी आहुति दक्षिण दिशा में डाली जाती है, 'सोमाय स्वाहा' (सोमाय) जीवन को शान्त और स्थिर करने के लिये सोम के लिये (स्वाहा) यह मेरा त्याग है, (इदम् सोमाय) यह सोम के लिये अर्पण है (इदम् न मम) यह मेरे लिये नहीं है, शेष दो आहुतियां कुण्ड के मध्य में डाली जाती हैं, (प्रजापतये स्वाहा) रक्षित अग्नि प्रजापति हो जाता है प्रजा को उत्पन्न करने में समर्थ होने से उसका नाम प्रजापति है, सन्तति परम्परा में जीवन में चलाये कार्यों को आगे ले जाने में समर्थ प्रजापति के लिये तीसरी आहुति से त्याग का प्रकाश है (इदम् प्रजापतये) यह त्याग प्रजापति के लिये है (इदं न मम) यह अभिमान से सर्वथा शून्य है। चौथी आहुति भी कुण्ड के मध्य में ही दी जाती है। (इन्द्राय स्वाहा) गृहस्थ जीवन को चलाने के लिये

जब तक पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त न हो जाय तब तक सन्तान उत्पन्न करना अयुक्त है, जो पूर्ण समर्थ हो चुका है वह इन्द्र है, उस इन्द्र के स्मरण के लिये चतुर्थ आहुति है, चतुर्थ त्याग है। (इदम् इन्द्राय) यह त्याग भी इन्द्र के लिये अर्पण करना होता है (इदम् न मम) इसमें भी अपनापन नहीं रखना होता है। इन चारों आहुतियों को 'आघारावाज्यभागाहुति' कहते हैं। इन चारों आहुतियों में जीवन के चार क्रम बतलाये हैं। पहिला क्रम जीवन यज्ञ सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का है। दूसरे क्रम में उस ज्ञान से शान्ति और स्थिरता के भाव अर्थात् अहिंसा और सत्य के भावों का अभ्यास है। तीसरे क्रम में अपनी विद्या और विविध गुणों के द्वारा संसार के लाभार्थ अपनी योग्यता के अनुसार अनेक कार्य आरम्भ करता है। चौथे क्रम में गृहस्थ जीवन चलाने में पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त करके विवाहित होकर उत्तम सन्तान उत्पन्न करता है जो सन्तान उसके कार्य को अग्रसर करती है। इस प्रकार इन आहुतियों का बड़ा महत्व है। संसार का जीवनयज्ञ इसी प्रकार से ठीक चलता है।

स्वामी दयानन्द की पद्धति में ये आहुतियां हैं, प्राचीन पद्धति में इनकी योजना दैनिक अग्निहोत्र में नहीं रखी मालूम होतीं। इसके पश्चात् तीन आहुतियां प्रातः और तीन आहुतियां सायंकाल की हैं। इनके साथ चौथी एक आहुति ब्रह्मवर्चस्काम पुरुष संबन्धी भी मिला देते हैं। इस प्रकार चार आहुति प्रातः की और चार सायंकाल की हो जाती हैं ये निम्न प्रकार हैं—

ओं सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा ॥ १ ॥
ओं सूर्यो वर्चो ज्योति वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥
ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥
ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रुषसेन्द्र-
वत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥
ओं अग्नि ज्योति ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ ५ ॥
ओं अग्नि वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ ६ ॥
ओं अग्नि ज्योति ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ ७ ॥
ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्र-
वत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ ८ ॥

इन मन्त्रों का अर्थ और व्यवस्था पिछले प्रकरणों में किया जा चुका है, इसके लिये देखो 'अग्निहोत्र की यज्ञरूपता और विविधरूपता' 'अग्निहोत्र की प्रजननरूपता'। तथापि यहां संक्षेप में इन मन्त्रों का अर्थ लिखा जाता है।

(अग्निः) यह जो अग्नि देव है वह ही (ज्योतिः) दृश्यमान ज्योतिः स्वरूप है (ज्योतिः) और जो यह दृश्यमान ज्योति है (अग्नि) वह अग्निदेव है (स्वाहा) उस ज्योतिरूप अग्नि के लिये हविः दिया जाता है। सायं काल आदित्य अग्नि में प्रवेश करता है इस कारण रात में अग्नि दूर से भी दिखाई पड़ता है दोनों तेज मिल जाते हैं। उदय होते हुए आदित्य पर ज्योतिः स्वरूप अग्नि फिर आरोहण कर जाता है इस कारण

अग्नि का धूम ही दिन में दिखाई पड़ता है, तैत्तरीय श्रुति में यह कथन इस प्रकार है—

"अग्निमादित्यः सायं प्रविशति तस्मादग्नि र्दूराननक्तं ददृशे। उभे हि तेजसी सम्पद्येते। उद्यन्तं वाऽऽदित्यं ज्योतिः स्वरूपोऽग्निरनुसमारोहति तस्माद्धूम एवाग्ने र्दिवा ददृशे।"

(सवित्रा) प्रेरक (देवेन) परमेश्वर देव के (सजूः) साथ तथा (इन्द्रवत्या) इन्द्र देव से युक्त (रात्र्या) रात्रि देवता के (सजूः) साथ (जुषाणः) प्रीतियुक्त (अग्निः) अग्नि (वेतु) आहुति को भक्षण करे अतः (स्वाहा) उस को हवि दी जाती है।

प्राचीन पद्धति में अग्निहोत्र में हवन करने के इतने ही मन्त्र हैं, स्वामी दयानन्द की पद्धति में ये भी हैं और इनके अतिरिक्त लोकवाची व्याहृति के साथ लोकी और प्राण शब्दों को जोड़कर अन्य पांच आहुतियां प्रातः सायं देने का विधान है। प्राचीन पद्धति में ये नहीं हैं। मन्त्र इस प्रकार हैं:—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा।
इदमग्नये प्राणाय इदन्न मम॥
ओं भुवर्वायवे अपानाय स्वाहा।
इदं वायवेऽपानाय इदन्न मम॥
ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा।

इदमादित्याय व्यानाय इदन्न मम ॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्नि वाय्वादित्येभ्य !
प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ।
इदमग्नि वाय्वादित्येभ्यः प्राणा-
पानव्यानेभ्यः इदन्न मम ।
ओं आपो ज्योतिरसोऽमृत ब्रह्म
भूर्भुवः स्वरोम् स्वाहा ॥

(भूः) प्राणों का प्राण, (भुवः) दुःख विनाशक, (स्वः) सुख स्वरूप, ये परमेश्वर के तीन नाम हैं। (भूः) सत् स्वरूप, [भुवः] चित् स्वरूप, [स्वः] आनन्द स्वरूप इस प्रकार भी सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा को भूः भुवः स्वः शब्दों से स्मरण कर सकते हैं। भूः भुवः स्वः ये तीनों शब्द तीन लोकों के नाम भी हैं [भूः] पृथवी लोक, [भुवः] अन्तरिक्ष लोक, [स्वः] द्यु लोक। इन तीन लोकों के तीन लोकी अर्थात् इनके देवता हैं, भूः का अग्नि है, भुवः का वायु है, स्वः का आदित्य है। अध्यात्म में इन देवों के कार्यों के अनुसार इनका नाम क्रमशः प्राण, अपान और व्यान है। द्युलोक वा स्वः के चारों ओर एक चतुर्थ लोक है जिसे आपः कहते हैं। आपः को ब्रह्म लोक भी कहते हैं। ये सब मिलकर ओम् है, ओम के अन्तगत हैं। इस प्रकार तीन लोकों के सम्बन्ध में आध्यात्मिक, आधिदैविक सम्बन्ध से तीन मन्त्रों के द्वारा कथन करके चतुर्थ मन्त्र में

तीनों का समावेश किया है और पांचवे मन्त्र में सबका सम्बन्ध ओम के साथ दिखलाया है। तीन लोक अग्नि लोक हैं चौथा सोम लोक है, अग्नि में सोम की आहुति पड़ने से ओम के अन्तर्गत अग्निहोत्र हो रहा है और सृष्टि की उत्पत्ति आदि कार्य चल रहा है। इस प्रकार यदि सोचें तो अग्निहोत्र के प्रकरण में इन मन्त्रों का समावेश करने से कुछ अनुचित नहीं किया है, यज्ञ करने वाला अग्निहोत्री इस सृष्टि यज्ञ सम्बन्धी पदार्थों को सर्व लोक कल्याण के लिये उपयोगी बनाने को आहुति देता और 'इदन्नमम' कहकर स्वकृत कर्मफल को लोकहित के लिये अर्पण करता है। इसके पश्चात् ओम् यह सर्व है और पूर्ण है इस सिद्धान्त के अनुसार 'ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' कह कर अन्तिम तीन पूर्णाहुति की जाती हैं, तीन आहुति करने का अभिप्राय तो सत्यता और दृढ़ता का सूचक है। इस प्रकार की पूर्णाहुति का निर्देश प्राचीन पद्धति में नहीं है। इस प्रकार अग्नि प्रज्वलित होने के पश्चात् स्वामी दयानन्द के अनुसार कुल आहुति १६ होती हैं। शेष मन्त्र जो बोले जाते हैं वे उपस्थान मन्त्र हैं। अग्निहोत्र करने वाले भक्तजन उनसे भी आहुति प्रदान कर देते हैं और सब के अन्त में पूर्णाहुति करते हैं।

१६ आहुतियों की परिगणना

४ आघारावाज्य भागाहुति।
४ सायं काल की वा प्रातः काल की आहुति।
४ व्याहृति प्राणाहुति।
१ सर्वैक्यभावद्योतकाहुति।

३ पूर्णाहुति ।-

स्वामी दयानन्द की पद्धति के साथ पांच उपस्थान मन्त्र निम्नलिखित हैं—

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु ॥ १ ॥

हे (अग्ने) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर (देवगणाः) विविध विद्याओं में निष्णात विद्वान (च) और (पितरः) वृद्ध पुरुष (याम्) जिस [मेधाम्] मेधा बुद्धि को [उपासते] उपासना करते हैं [तया] उस [मेधया] मेधा से [अद्य] आज [माम] मुझको [मेधाविनम्] मेधा युक्त [कुरु] कर ।

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ २ ॥

हे [सवितः] सब के प्रेरक [देव] परमेश्वर [विश्वानि] सब [दुरितानि] दुर्गुणों को [परासुव] दूर कर [यद्] जो [भद्रम] सुख और कल्याण है, [तत्] वह [नः] हम को [आसुव] प्राप्त करा ।

ओं अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराण मेनो
भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ ३ ॥

हे [अग्ने] मार्ग दर्शक परमेश्वर ! [अस्मान्] हम को [राये] ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये [सुपथा] उत्तम मार्ग से [नय] ले चल हे [देव] प्रकाश दाता ! तू [विश्वानि] सब [वयुनानि कर्मों को [विद्वान्] जानता है, [जुहुराणम्] कुटिलता को [एनः] पाप को [अस्मत्] हम से [युयोधि] दूर भगा, [ते] तेरे लिये [भूयिष्ठाम्] बहुत अधिक [नमः उक्तिम्] नम्रता सूचक भाषण [विधेम] करते हैं।

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ४ ॥

हे [भूर्भुवः स्वः] सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मन् ! [सवितुः] सब जगत् के उत्पादक [देवस्य] देव का [वरेण्यम्] ग्रहण करने योग्य उत्तम (भर्गः) तेज का (धीमहि) ध्यान करें (यः) जो (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात् , शुभ कार्य में प्रेरित करे।

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च ।
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च ।
नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ ५ ॥

(शम्भवाय) कल्याण स्वरूप (च) और (मयोभवाय) सुख स्वरूप परमेश्वर के लिये (नमः) नमस्कार है। (शङ्कराय) कल्याण कारक (च) और (मयस्कराय) सुख कारक परमेश्वर के लिये (नमः) नमस्कार है। (शिवाय) मङ्गलमय [च] और [शिवतराय] मङ्गलमयों में सबसे अधिक मङ्गलमय परमेश्वर के लिये [नमः] नमस्कार है।

प्राचीन पद्धति में उपस्थान मन्त्र इनसे भिन्न हैं, प्राचीन पद्धति के अनुसार उपस्थान मन्त्र निम्न प्रकार हैं

पहिले देव दृष्ट बृहत् उपस्थान कहा जाता है—

सायकाल आहुति कर चुकने पर यजमान उठ कर आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों के पास उपस्थित होता है, तब आहवनीयोपस्थान मन्त्र बोलता है—

उप प्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये ।
आरे अस्मे च शृण्वते ॥ १ ॥

[अध्वरम्] यज्ञ के [उपप्रयन्तः] समीप जाकर हम उस [अग्नये] अग्नि के लिये [मन्त्रम्] मन्त्र [वोचेम] बोलें जो अग्नि [आरे] हमसे दूर [अस्मे च] और हमारे पास [शृण्वते] सुनता है ।

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥ २ ॥

[दिवः] द्युलोक का [मूर्धा] शिरः समान [ककुत्] सब के ऊपर स्थित होने से गोस्कन्ध के समान अथवा श्रेष्ठ आदित्य [पृथिव्याः] पृथिवीस्थ पदार्थों का [पतिः] धारण पालन और प्रकाश के द्वारा परिपालक है [अयम्] यह [अग्निः] अग्नि [अपाम्] द्युलोक से वृष्टि रूप में पड़ते हुए जलों का [रेतांसि] ब्रीहि यव आदि रूप से परिणत सारों को [जिन्वति] बढ़ाता है. अथवा [अपां रेतांसि] जलों के कारणों को [जिन्वति] पुष्ट करता है— आहुति के फल स्वरूप

वृष्टि को उत्पन्न करता है।

उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या,
उभा राधसः सह मादयध्यै।
उभा दातारविषां रयीणाम्,
उभा वाजस्य सातये हुवे वाम्॥ ३॥

हे [इन्द्राग्नी] आहवनीय और गार्हपत्य [वाम् उभौ] तुम दोनों को [आहुवध्या आह्वान करना चाहता हूं [राधसः] हवि रूप धन से [उभा] तुम दोनों को [सह] एक साथ (मादयध्यै) हर्षित करना चाहता हूं क्योंकि (उभा) तुम दोनों (इषाम) अन्नों के (रयीणाम्) और धनों के (दातारौ) दाता हो, अतः (उभा वाम्) तुम दोनों को (वाजस्य) अन्न के (सातये) दान के लिये (हुवे) बुलाता हूं।

अयं ते योनि ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
त जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम्॥ ४॥

हे (अग्ने) आहवनीय ! (अयम्) यह गार्हपत्य (ते) तेरा (योनिः) उत्पत्ति स्थान है, जो सायं और प्रातः काल उत्पादन योग्य होने से अब (ऋत्वियः) ऋतुकाल को प्राप्त हुआ है, (यतः) ऋतुकाल को प्राप्त गार्हपत्य से (जातः) उत्पन्न होने से तू (अरोचथाः) दीप्त हो, हे अग्ने ! (तम्) उस गार्हपत्य को जानकर फिर उद्धरण करने के लिये कर्म समाप्ति में (आरोह) प्रवेश कर. (अथ) इस के बाद (नः) हमारे लिये (रयिम्) धन की (वर्धया) वृद्धि कर कि जिससे फिर याग करने में समर्थ होवें।

अयमिह प्रथमो धायि धातृभि,
होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचु
वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे ॥ ५ ॥

(अयम्) यह आहवनीय (इह) कर्म करने में (प्रथमः) मुख्य है इसलिये (धातृभिः) आधान करने वालों ने (अधायि) आधान किया है, कि (यजिष्ठः) बहुत अधिक यज्ञ करने वाला (होता) देवों को बुलाने वाला (अध्वरेषु) सोमयागादि में (ईड्यः) ऋत्विजों से स्तुति किया जाता है, (यम्) विविध कर्मों में उपयोगी होने से जिस (चित्रम्) आश्चर्यकारी (विभ्वम्) विभुत्व शक्ति युक्त को (अप्नवानः) अपत्यवाले (भृगवः) परिपक्वज्ञान वाले मुनि (विशे विशे) प्रत्येक मनुष्य के लिये (वनेषु) वनों में (विरुरुचुः) दीप्त करें ॥

अस्य प्रत्नामनु द्युतिं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः ।
पयः सहस्रसामृषिम् ॥ ६ ॥

(अह्रयः) लज्जा रहित निःशङ्क जितेन्द्रिय पुरुष (अस्य) इस अग्नि की (द्युतिम् अनु) चमक के अनुरूप (शुक्रम्) शुद्ध तेजोवर्धक [ऋषिम्] ज्ञानवर्धक [सहस्रसाम्] हजारों गुणों को देने वाली गौओं के [पयः] दूध को [दुदुह्रे] दोहते हैं ॥

शुक्र रूप अग्नि के द्वारा सिंचनक्रियायोग्य तेज ही गौएं दूध रूप से झरती हैं, यही बात अग्निहोत्र ब्राह्मण में स्पष्ट की है:—

"तासु ह्याग्निरभिदध्यौ मिथुन्येनया स्यामिति, तां संबभूव, तस्यां रेतः प्रासिञ्चत्, तत्पयोऽभवत् इति। तासु गोषु॥"

तनूपा अग्नेसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।
वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण॥ ७॥

हे [अग्ने] अग्ने! तू उदर में विद्यमान है, तेरे द्वारा अन्न जीर्ण होते हैं और रस रक्त आदि रूप में परिणत होते हैं अतः तू [तनूपा] शरीर का पालक [असि] है। हे [अग्ने] अग्ने! शरीर में तू उदराग्निरूप से विद्यमान है, तेरी ही उष्णता शरीर में है, जब तक यह उष्णता उपलब्ध होती है तब तक प्राणी मरता नहीं है, इस प्रकार मृत्यु का परिहार करने से तू [आयुर्दा] आयु देने वाला [असि] है।

हे [अग्ने] अग्ने! तू वैदिक कर्मों का साधक है, उन कर्मों से वर्च अर्थात् दीप्ति चमक उपलब्ध होती है, इसलिये तू [वर्चोदा] वचस् देने वाला [असि] है। इसलिये हे अग्ने! [मे] मेरे [तन्वम्] शरीर की [पाहि] रक्षा कर, [मे] मेरे लिये [आयुः] आयु [देहि] दे, [मे] मुझ में [वर्चः] वैदिक कर्मों के करने से उत्पन्न तेज [देहि] दे। और हे अग्ने! [मे] मेरे [तन्वा] शरीर में [यत्] चक्षुः आदि जो अङ्ग [ऊनम्] दृष्टि आदि कर्म में कमजोर है [तत्] उस सब

को [मे] मुझ में [आपृण] चारों ओर से पूरण कर।

इन्धानास्त्वाशतं हिमा द्युमन्त समिधीमहि ।
वयस्वन्तो वयस्कृतं सहस्वन्तः सहस्कृतम् ।
अग्ने सपत्नदम्भन मदब्धासो अदाभ्यम् ।
चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ॥ ८ ॥

हे [अग्ने] अग्ने ! तेरी कृपा से [इन्धानाः] चमकते हुए हम [द्युमन्तम्] चमकते हुए [त्वा] तुझ को [वयस्वन्तः] अन्नवाले हम [वयस्कृतम्] तुझ अन्नदाता को [सहस्वन्तः] बल युक्त हम [सहस्कृतम्] तुझ बलदाता को [अदब्धासः] किसी से हिंसा न किये गये हम [अदाभ्यम्] हिंसा न किये जा सकने योग्य तुझको [सपत्नदम्भनम्] शत्रुओं के नाशक तुझको [शतं हिमाः] सौ वर्ष तक [समिधीमहि] प्रज्वलित करें। हे [चित्रावसो] रात्रि ! [स्वस्ति] उपद्रव रहित जैसे हो वैसे [ते] तेरे [पारम्] अन्त को [अशीय] प्राप्त हों।

देवयजन में चौर आदि के समान राक्षसों की प्रवृत्ति होती है उस को दूर करने के लिये अग्नि के प्रताप से यह रात्रि सुख से मेरी समाप्त हो ऐसी कामना है।

"रात्रिर्वै चित्रावसुः—स्वस्तीयं संगृह्येव चित्राणि वसति।" इति श्रुतिः ॥ (श० २।३।४।२२)

रात्रि में चन्द्र नक्षत्र अन्धकार रूप से विविध पदार्थों का वास रहता है इसलिये रात्रि चित्रावसु होती है।

यहां तक खड़े होकर उपस्थान करना होता है, इसके पश्चात् बैठकर उपस्थान किया जाता है।

सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसाऽगथाः
समृषीणां स्तुतेन, सं प्रियेण धाम्ना ।
समहमायुषा, सं वर्चसा स प्रजया,
सं रायस्पोषेण ग्मिषीय ॥ ९ ॥

हे [अग्ने] अग्ने ! तू अब रात में [सूर्यस्य] सूर्य के [वर्चसा] तेज से [समगथाः] सगत है, [ऋषीणाम्] अग्नि की स्तुति करने वाले उपस्थानादि मन्त्रों के [स्तुतेन] स्तोत्र से भी तू [समगथाः] सङ्गत है, और [प्रियेण धाम्ना] प्रिय आहुतियों के साथ भी तू [समगथाः] सङ्गत है। तो इस प्रकार जैसे तू इन तीन के साथ सङ्गत है वैसे [अहम्] मैं भी तेरी कृपा से [आयुषा] पूर्ण आयु से [संग्मिषीय] सङ्गत होऊँ [वर्चसा] विद्या ऐश्वर्य आदि के तेज से [संग्मिषीय] सङ्गत होऊँ, [प्रजया] पुत्रादि प्रजा से [संग्मिषीय] सङ्गत होऊँ [रायस्पोषेण] धन सम्पत्ति से [संग्मिषीय] सङ्गत होऊँ ।

"तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैत दाह । तद्यदुपतिष्ठते तेनैनदाह । आहुतयो वा अस्य प्रियं धाम ।" इति श्रुतयः । (श० २ । ३ । ४ । २४)

इसके बाद गौ का उपस्थान करना होता है—

अन्धस्थान्धो वो भक्षीय, महस्थ महो वो भक्षीय, ऊर्जस्थोर्जं वो भक्षीय, रायस्पोषस्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ॥ १० ॥

हे गायो! तुम [अन्धः] घी दूध आदि रूप अन्न के उत्पादक होने से व्यवहार में अन्नरूप [स्थ] हो, इसलिये आप की कृपा से मैं [वः] तुम्हारे [अन्धः] दूध घी आदि रूप अन्न को [भक्षीय] सेवन करूं। तुम [महः] पूज्यरूप [स्थ] हो. इसलिये (वः) आप पूज्यों की कृपा से मैं भी (महः) पूज्य भाव को (भक्षीय) ग्रहण करूं, अथवा तुम (महः) दश वीर्य रूप (स्थ) हो अतः (वः) तुम्हारे उस (महः) वीर्य को मैं (भक्षीय) सेवन करूं। (ऊर्जः) गोदुग्ध बल का हेतु है इसलिये व्यवहार में तुम बलरूप (स्थ) हो अतः (वः) तुम्हारी कृपा से (ऊजम्) बल को (भक्षीय) सेवन करूं (रायस्पोषः) दूध घी आदि का विक्रय कर के धन के बढ़ाने से व्यवहार में तुम धन पुष्टि रूप (स्थ) हो अतः तुम्हारी कृपा से मैं (रायस्पोषम्) धन पुष्टि को (भक्षीय) सेवन करूं।

"यथा गौर्वै प्रति धुक् तस्यै शृतं तस्यै शर स्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमीक्षा तस्यै वाजिनम्" ये श्रुति में बतलाये गये दस वीर्य 'महः' कहलाते हैं। तत्काल दोहे हुए दूध को प्रतिधुक् कहते हैं। गरम किये हुए दूध को 'शृत' कहते हैं। दूध की मलाई को 'शर' कहते हैं। दही के पानी को 'मस्तु' कहते हैं। जिससे दूध जमाया जाय वह दही का पिण्ड 'आतञ्चन' कहलाता है। फटे हुए दूध को 'आमीक्षा' कहते हैं। आमीक्षा के पानी को 'वाजिन' कहते हैं।

रेवती रमध्व मस्मिन् योना वस्मिन् गोष्ठे, ऽस्मिंल्लोके, ऽस्मिनक्षयं, इहैव स्त मापगात ॥११॥

हे (रेवतीः) धन वाली गायो ! यदि चाहो तो (अस्मिन्) इस अग्निहोत्र की हवि के दोहनोपयोगी (योनौ) स्थान में (रमध्वम्) संचार प्रदेश में विचरो, (अस्मिन्) इस यजमान के (गोष्ठे) गौओं की जगह में (रमध्वम्) विहार करो, (अस्मिन्) इस यजमान की दृष्टि में रहने वाले (लोके) बाहिर घूमने के प्रदेश में (रमध्वम्) विहार करो, अथवा रात्रि में (अस्मिन्) इस (क्षये) यजमान गृह में (रमध्वम्) विहार करो, इस प्रकार तुम्हें घूमने फिरने का प्रदेश प्राप्त होने से कुछ क्लेश नहीं होगा इसलिये तुम (इहैव) यहां ही यजमान के पास (स्त) रहो (मा अपगात) अन्यत्र न जाओ ॥

"पशवो वै रेवन्तः" यह श्रुति है (श० २।३।४।२६)।

अब गौ का स्पर्श करता हुआ कहता है—

संहिता सि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन ॥१२॥

हे गौः ! तू (विश्वरूपी) शुक्ल कृष्ण आदि बहुरूप वाली (संहिता) दूध घी आदि हविः देने के लिये यज्ञ कर्मों से संयुक्त (असि) है ऐसी तू (ऊर्जा) दूध घी आदि रस से (गौपत्येन) गोस्वामी रूप से (मा) मुझ में (आविश) पूर्णरूप से प्रविष्ट हो कि तेरी कृपा से मैं बहुत प्रकार के रस से और गोस्वामीपन से सम्पन्न हो जाऊं ॥

अब गार्हपत्य के उपस्थान के मन्त्र आरम्भ होते हैं, इसके पश्चात् गार्हपत्य अग्नि के पास जाकर उपस्थित होता है—

उपत्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥१३॥

हे (अग्ने) अग्ने ! हे (दोषावस्तः) रात्रि में वसनशील गार्हपत्य में (वयम्) हम यजमान (धिया) श्रद्धायुक्त बुद्धि से (नमः) नमस्कार (भरन्तः) करते हुए (दिवे दिवे) प्रतिदिन (त्वा) तेरे पास (उप एमसि) आते हैं ॥

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम् ।
वर्धमानं स्वे दमे ॥१४॥

(अध्वराणाम्) यज्ञों के (गोपाम्) रक्षक (ऋतस्य) सत्य के (दीदिवम्) चमकाने वाले (स्वेदमे) अपने घर में (वर्धमानम्) चातुर्मास्य सोम पशु आदि यागों के द्वारा बढ़ते हुए अतएव (राजन्तम्) चमकते हुए तुझको प्राप्त होते हैं ।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥१५॥

हे (अग्ने) गार्हपत्य अग्ने ! (सः) इस प्रकार गुणों से युक्त तू (नः) हमारे लिये (सूपायनः) सुख से प्राप्त हो सकने योग्य (भव) हो, (इव) जैसे (पिता) पिता (सूनवे) पुत्र के लिये निर्भय प्राप्त होता है, और (नः) हमारे (स्वस्तये) कल्याण के लिये (सचस्व) कर्म से युक्त हो, अर्थात् जैसे पिता पुत्र के कल्याण में लगा रहता है और दुःखादि से रक्षा के लिये पुत्रादि निःशङ्क उसका आश्रय लेते हैं वैसे ही तू हमारे लिये हो ।

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।१६।

हे (अग्ने) गार्हपत्य अग्ने ! (त्वम्) तू (नः) हमारा (अन्तमः) समीपवर्ती (भवा) हो, (उत) और (त्राता) रक्षक (शिवः) शान्त (वरूथ्यः) गृह के लिये हितकारी (भवा) हो ।

वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः ॥१७॥

हे अग्ने ! तू (वसुः अग्निः) जनों का बसाने वाला वसु नामक अग्नि है (वसुश्रवा) धन से कीर्तिमान है ऐसा तू (अच्छा नक्षि) व्याप्त हो, अथवा हे (अच्छ) निर्मल अग्ने ! (अनक्षि) हमारे होमस्थान को जा और (द्युमत्तमम्) अति-दीप्तियुक्त (रयिम्) धन को (दाः) दे ।

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नून
मीमहे सखिभ्यः ॥१८॥

हे (शोचिष्ठ) अत्यन्त दीप्तिमान् ! और हे (दीदिवः) सबके चमकाने वाले ! (तम्) पूर्वोक्त गुणयुक्त (त्वा) तुझको (सखिभ्यः) अर्थ के लिये (सुम्नाय) सुख के लिये (नूनम्) निश्चय से [ईमहे] याचना करते हैं अथवा (सुम्नाय) सुख के लिये (सखिभ्यः) और अपने मित्रों के उपकार के लिये (त्वा) तुझको (ईमहे) याचना करते हैं ।

सनो बोधि श्रुधि हवमुरुष्याणो
अघायतः समस्मात् ॥१९॥

(सः) वह तू (नः) हमको (बोधि) ज्ञान युक्त कर वा चेतन कर और हमारी (हवम्) पुकार को (श्रुधि) सुन,

[समस्मात्] सब [अघायतः] पाप करने वाले शत्रु से [नः] हमारी [उरुष्य] रक्षा कर।

अब गौ के पास जाता है—

इड एह्यदित एहि। काम्या एत,

मयि वः कामधरणं भूयात् ॥२०॥

हे [इडे] गौ! [एहि] होमस्थान में आ, हे [अदिते] दिव्यगुणों की जननी गौ! [एहि] होमस्थान में आ, जैसे इडा मनु के पास गई वैसे तू हमको प्राप्त हो, और जैसे अदिति आदित्यों को प्राप्त हुई वैसे तू हमको प्राप्त हो। हे [काम्याः] सब से कामना की जाने योग्य गौओ! तुम [एत] प्राप्त हो [वः] तुम्हारा [कामधरणम्] यथेष्ट फल को प्राप्त कराना (मयि) मुझमें [भूयात्] होवे, अर्थात् तुम्हारी कृपा से मैं अभीष्ट फल का धारण करने वाला होऊं, अथवा मुझमें तुम्हारे प्रति अनुराग हो।

'अहं वः प्रियो भूयासम्' इतिश्रुतिः (श० २।३।४।३४)

इडा मनोर्दुहिता। अदिति र्देवमाता।

अब व्रतोपायन के सदृश आहवनीय के सामने पूर्व की ओर मुख करके नौ ऋचायें जपता है—

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।

कक्षीवन्तं य औशिजः॥२१॥

हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के रक्षक! (यः) जो (औशिजः) उशिज से उत्पन्न हुआ दीर्घतमस् का औरसपुत्र है उस (कक्षी-

धन्तम्) कक्षीवान् ऋषि को (सोमानम्) रस निकालने वाले को (स्वरणम्) शब्द करने वाला (कृणुहि) कर, कक्षीवान् के समान मुझको सोमयाग करने वाला और स्तुति करने वाला बना।

यो रेवान् योऽमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः।
स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥२२॥

(यः) जो ब्रह्मणस्पति (रेवान्) धनवान और (यः) जो [अमीवहा] रोग का नाश करने वाला (वसुवित्) धन का ज्ञाता (पुष्टिवर्धनः) पोषक है और (यः) जो (तुरः) वेगशील है तथा शीघ्रकारी है (सः) वह ब्रह्मणस्पति (नः) हमको (सिषक्तु) सेवन करे।

अथवा (यः) जो (रेवान्) धनवान् (अमीवहा) व्याधि का नाश करने वाला (वसुवित्) धन का उपार्जन करने वाला (पुष्टिवर्धनः) पोषक है (सः) वह (तुरः) शीघ्रकारी पुत्र (नः) हमारी [सिषक्तु] सेवा करे॥

मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य।
रक्षाणो ब्रह्मणस्पते ॥२३॥

हे [ब्रह्मणस्पते] वेद के पालक ! [नः] हमारी [रक्षा] रक्षा कर जिससे कभी भी [अररुषः] हविर्दान न करने वाले [मर्त्यस्य] मनुष्य का [शंसः] अनिष्टचिन्तन वा द्रोह [धूर्तिः] हिंसा [नः] हमको [मा प्रणक्] न नाश करे।

महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः ।
दुराधर्षं वरुणस्य ॥२४॥

(मित्रस्यार्यमणो वरुणस्य) मित्र अर्यमा वरुण इन (त्रीणाम्) तीन देवों का (महि) महत् (द्युक्षम्) प्रकाश का आश्रय (दुराधर्षम्) जिसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता ऐसा (अवः) रक्षण (अस्तु) होवे।

न हि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु ।
ईशे रिपुरघशंसः ॥२५॥

(तेषाम्) उनके (वारणेषु) वारण प्रधान (अध्वसु) मार्गों में (अमा चन) घरों में भी (अघशंसः) घातक (रिपुः) शत्रु (नहि) नहीं (ईशे) समर्थ है।

ते हि पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय ।
ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥२६॥

(हि) क्योंकि (ते) मित्र अर्यमा वरुण (अदितेः) अखण्डित शक्ति देवमाता के (पुत्रासः) पुत्र (मर्त्याय) मनुष्य के लिये (जीवसे) जीने को (अजस्रम्) निरन्तर (ज्योतिः) तेज (प्रयच्छन्ति) देते हैं। इसलिये शत्रु की बाधा नहीं है।

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥२७॥

हे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त ! तू (कदाचन) कभी (स्तरीः) हिंसक (न) नहीं (असि) है, (नु) किन्तु (दाशुषे) हविः

देने वाले को (सश्चसि) सेवा करता है। हे (मघवन्) धनवान्! [देवस्य] प्रकाशमान् [ते] तेरा [भूयः] बहुत [इत्] ही [दानम्] दान [नु] शीघ्र [इत्] ही [दाश्वांसम्] देने वाले को [उपोपपृच्यते] प्राप्त होता है ॥

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो योनः प्रचोदयात् ॥२८॥

[तत्] उस [सवितुः] सर्वप्रेरक [देवस्य] देव का [वरेण्यम्] आराध्य [भर्गः] वीर्य का [धीमहि] ध्यान करते हैं [यः] जो [नः] हमारी [धियः] बुद्धियों वा कर्मों को [प्रचोदयात्] प्रेरणा देता है।

"वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानाद् भर्गोऽपचक्राम । वीर्यं वै भर्गः" इति श्रुतिः (श० ५ । ४ । ५ । १)। मण्डलं पुरुषो रश्मयः इत्यपि त्रय भर्ग शब्दाभिधेयम् ।

परि ते दूडभो रथोऽस्मानश्नोतु विश्वतः ।
येन रक्षसि दाशुषः ॥२९॥

हे अग्ने ! [दूडभः] किसी से भी जो सहसा हिंसित नहीं किया जा सकता [ते] तेरा [रथः] रथ हमको [परि] चारों ओर से [अश्नोतु] प्राप्त हो [येन] जिस रथ से तू [दाशुषः] दानशील यजमानों को [रक्षसि] पालन करता है।

"यजमाना वै दाश्वांसः" इतिश्रुतिः (श० २।३।४।३८)।

यह बृहत् उपस्थान समाप्त हुआ।

अब आसुरि दृष्ट क्षुल्लकोपस्थान आरम्भ किया जाता है।

भूर्भुवः स्वः—सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥१॥

हे अग्ने गार्हपत्य ! वा आहवनीय ! तू [भूर्भुवः स्वः] तीन व्याहृति रूप वा तीन लोकरूप है इसलिये तेरी कृपा से मैं [प्रजाभिः] बन्धु भृत्य आदि रूप प्रजाओं से [सुप्रजाः] उत्तम प्रजा वाला [स्याम्] होऊं, और [वीरैः] पुत्रों से [सुवीरः] उत्तम पुत्रवान् [स्याम्] होऊं. और [पोषैः] हिरण्यादि पोषक द्रव्यों से [सुपोषः] उत्तम पुष्टियुक्त [स्याम्] होऊं।

नर्य प्रजां मे पाहि, शंस्य पशून्मे पाहि, अथर्य पितुं मे पाहि ॥२॥

यदि यजमान अन्य गांव को जावे तो सब अग्नियों का उपस्थान करे, अतः यह प्रवास करने को उद्यत यजमान का उपस्थान कहा जाता है। जैसे कि—

हे [नर्य] नरों के लिये हितकारी गार्हपत्य ! [मे] मेरी [प्रजाम्] प्रजा की [पाहि] रक्षा कर, हे [शंस्य] काम करने वालों के द्वारा प्रशंसनीय आहवनीय ! [मे] मेरे [पशून्] पशुओं की [पाहि] रक्षा कर, हे [अथर्य] गार्हपत्य अग्नि से निरन्तर अपने स्थान की ओर जाने वाले गमनशील दक्षिणाग्ने ! [मे] मेरे [पितुम्] अन्न को [पाहि] रक्षा कर।

यजमान जब लौट कर आवे तब किसी भी मनुष्य से बिना मिले ही हाथ में समिधा लेकर पहिले अग्न्यागार में जाकर

आहवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि में से प्रत्येक का उपस्थान करे, इसका नाम आगतोपस्थान है, आहवनीयोपस्थान इस प्रकार करे—

आगन्म विश्ववेदस मस्मभ्यं वसु वित्तमम् ।
अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥१॥

हे [अग्ने] अग्ने ! हे [सम्राट्] सम्राट् ! आहवनीय ! [विश्ववेदसम्] सर्वज्ञ वा सर्वधन [अस्मभ्यम्] हमारे लिये [वसुवित्तमम्] अतिशय धन के प्राप्त करने वाले तुझको उद्देश्य करके हम ग्रामान्तर से [आगन्म] लौट आये हैं ऐसा तू हमारे लिये [द्युम्नम्] यश [सहः] बल [अभ्यायच्छस्व] दे।

अब गार्हपत्य का उपस्थान करे—

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥२॥

(अयम्) यह सामने विद्यमान (अग्निः अग्नि (गार्हपत्यः) गार्हपत्य (गृहपतिः) गृह का रक्षक है, (प्रजायाः) पुत्र पौत्र आदि के अनुग्रह के लिये (वसुवित्तमः) धन का अत्यधिक प्राप्त करने वाला है उससे प्रार्थना करता हूँ—हे (अग्ने) अग्ने ! हे (गृहपते) गृहपते गार्हपत्य ! वह तू द्युम्नम्) यशः (सहः) और बल (अभ्यायच्छस्व) दे।

इसी प्रकार दक्षिणाग्नि का उपस्थान करता है—

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टि वर्धनः ।

अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ ३ ॥

(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (पुरीष्यः) पशुओं के लिये हितकारी है (रयिमान्) धनवान् (पुष्टि वर्धनः) पुष्टि बढ़ाने वाला है, उस से प्रार्थना करता हूं—हे (अग्ने) अग्ने ! हे (पुरीष्य) पशुहित ! दक्षिणाग्ने ! हमारे लिये (द्युम्नम्) यश (सहः) और बल (अभ्यायच्छस्व) दे।

"पशवो वै पुरीषम्" इति श्रुतिः।

इसके बाद ग्रामान्तर से आया हुआ घरों में जाता है—

गृहा मा बिभीत मावेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ १ ॥

हे (गृहाः) गृहजनो ! पालक यजमान गया है इसलिये (माबिभीत) भय मत करो, कोई भी शत्रु आकर विनाश करेगा इस विचार से (मा वेपध्वम्) कांपो मत, क्योंकि हम (ऊर्जम्) ऊर्ज को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (वः) तुम को (एमसि) प्राप्त हुए हैं, जैसे तुम ऊर्ज को धारण कर रहे हो ऐसे मैं भी [ऊर्जम्] ऊर्ज को धारण करके [सुमनाः] सुप्रसन्न [सुमेधाः] उत्तम मेधायुक्त [मनसा] दुःख रहित मन से [मोदमानः] हर्षित होकर [वः] तुमको [ऐमि] लौट रहा हूँ।

येषा मध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः, गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ २ ॥

देशान्तर को जाता हुआ यजमान [येषाम्] जिन गृहों का [अध्येति] स्मरण करता है [येषु] और जिन गृहों के साथ यजमान का [बहुः] अत्यधिक [सौमनसः] प्रेम है उन [गृहान्] गृहों को हम [उपह्वयामहे] बुलाते हैं [ते] वे बुलाये हुये वास्तु देव [जानतः] उपकार जानने वाले [नः] हम को [जानन्तु] पहिचाने।

उपहूता इव गाव, उपहूता अजावयः, अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः, क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये, शिवं शग्मं शंयोः शंयोः ॥ ३ ॥

हमारे घरों में ये [गावः] गौ और बैल [उपहूता इव] सुख से रहने के लिये अब हम से आज्ञा दिये गये हैं, इसी प्रकार [अजावयः] भेड़ और बकरी [उपहूता] यहां रहने के लिये बुलाये गये हैं, [अथ उ] और [अन्नस्य] अन्न का [कीलालः] रस भी [नः गृहेषु] हमारे घरों में [उपहूतः] समृद्धहो इस प्रकार से आज्ञा दी है, हे गृहा ! [क्षेमाय] विद्यमान वसु संरक्षण के लिये [शान्त्यै] सब अरिष्टों की शान्ति के लिये [वः] तुम को [प्रपद्ये] प्राप्त होता हूं अतः [शिवम्] कल्याण चाहने वाले का [शंयोः शग्मम्] ऐहिक सुख और [शयो शग्मम्] परलोक का सुख होवे। उपस्थान मन्त्र समाप्त हुये।

यद्यपि स्वामी दयानन्द की पद्धति नवीन जैसी प्रतीत होती है परन्तु वह भी सूत्र ग्रन्थों के आधार पर बनी होने से प्राचीन ही है, बहुत ही सम्बद्ध होने से रुचिकर है, यदि स्वामी

दयानन्द की पद्धति में 'गायत्री मन्त्र' और 'नमः शम्भवाय च०' मन्त्रों के स्थान में केवल एक सर्वंवैपूर्णं स्वाहा बोला जाय तो १६ आहुति हो जाती हैं अन्यथा १६ आहुति होती हैं।

उपसंहार

अब इस निबन्ध को समाप्त करता हूं विद्वान पाठकों से निवेदन है कि इस को विचार पूर्वक पढ़ें, इस में जो अपूर्णता रह गई हो उसका निर्देश करके दूर करने का प्रयत्न करें, जो इसमें अच्छा हो उसका प्रचार करके प्राचीन ऋषियों के प्रति सम्मान प्रकट करें।

❀ समाप्त ❀

परिशिष्ट

अग्निहोत्राधिकारः

अग्न्याधानम्

अमावास्यायामग्न्याधेयं क्रियते।

तत्र चतुर्भिर्ऋत्विग्भिः प्राशितुं योग्यमोदनं पक्त्वा बहिरुद्धास्य तस्यौदनस्य मध्ये घृतसेचनाय निम्नं स्थानं कृत्वा सर्पिषा तदापूय तस्मिन् सर्पिषि आश्वत्थीः तिस्रः समिधोऽभ्यज्य शमीगर्भमेतदाप्नुम इति वदन्त एकैकामेकैकयर्चा अग्नावभ्यादधति। तत्र ब्रूते—हे ऋत्विजः यूयम्—

"समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन" ॥१॥

[समिधा] काष्ठद्वारा तावदग्निं [दुवस्यत] परिचरत। ततो [घृतैः] हूयमानैः पूर्णाहुतिसम्बन्धिभिर्घृतैरातिथ्यकर्मणे [अतिथिम्] अर्हणीयमेनं [बोधयत] प्रज्वालयत। [अस्मिन्] प्रज्वालिते च तस्मिन्नग्नौ [हव्या] नानाविधानि हवींषि [आजुहोतन] आजुहुत ॥१॥

हे ऋत्विजः यूयम्—

"सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ।
अग्नये जातवेदसे" ॥२॥

[सुसमिद्धाय] सम्यक् प्रज्वलिताय [शोचिषे] शोचिष्मते [जातवेदसे] जात प्रज्ञानाय [अग्नये] अग्नये [तीव्रम्] प्रहणोद्वासनाधिश्रयणादिभिः संस्कृतं [घृतम्] घृतम् [जुहोतन] जुहुत ॥२॥

अग्निं प्रत्याह—

"तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥३।"

[अङ्गिरः] हे अङ्गिरः अग्ने [तम्] निर्दिष्ट गुणवन्तं [त्वा] त्वां [समिद्भिः] यज्ञ सम्बन्धिकाष्ठैः [घृतेन] संस्कृतेनाज्येन च [वर्धयामसि] प्रवृद्धं कुमः [यविष्ठ्य] हे युवतम अग्ने ! स त्वम् [बृहत्] अधिकम् [शोचा] दीप्यस्व ॥३॥

"अङ्गिरा उ ह्यग्निः" इति श्रुतेः (१।४।१।२५)

अथाग्निमीक्षमाणः केवल जपति—

"उपत्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीयन्तु हर्यत ।
जुषस्व समिधो मम" ॥४॥

[अग्ने] हे अग्ने ! [हविष्मती] हवियुक्ताः [घृताचीः]

घृताक्ताः [समिधः] एताः समिधः [त्वा] त्वाम् प्रति [उप-यन्तु] उप गच्छन्तु । [हर्यत] हे हर्य्यत ! हे इच्छुक ! अग्ने ! त्वम् [मम समिधः] ताः मम समिधः [जुषस्व] स्वीकुरु ॥४॥

अथ आपो हिरण्यमूषाऽऽखूत्करः शर्करा इति पञ्च संभारान सम्पाद्य स्पयेनोल्लिखितायां शुद्धायां भूमौ तानवस्थाप्य तेषु शुष्क काष्ठे ज्वलन्तमग्निं भूर्भुवः स्व रिति पञ्चाक्षराण्युच्चारयन्नादध्यात् । तदिदमाहवनीया-धानम् । भूर्भुवः स्वः––द्यौ रिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्याया-ऽऽदधे ॥ ५ ॥

[भूर्भुवः स्वः] भूर्भुवः स्वरित्येतास्तिस्रो व्याहृतयः पृथिव्यादि लोकत्रय नामानि आभिः स्थापयन् लोकत्रयमनेन स्मरति । इध्म पूर्वार्द्धं गृहीत्वा ब्रूते [देव यजनि] देवा इज्यन्ते यस्यां सा हे देवयजनी ! [पृथिवि] हे पृथिवि ! [तस्याः] देवयजन योग्यायाः [ते] तव [पृष्ठे] उपरि [अन्नादम] हुत भोक्तारं गार्हपत्यादि रूपम् [अग्निम] अग्निं [आदधे] स्थापयामि [अन्नाद्याय] भोक्तुं योग्याय अन्नाय अन्नभक्षणाय वा, योह्यग्निः [भूम्ना द्यौ रिव] यथा द्यौ नक्षत्रादि बहुत्वेन युक्ता तथा ज्वालाबहुत्वेन युक्तो वर्तते, यश्चाग्नि [वरिम्णा पृथिवीव] यथा पृथिवी सर्व प्राण्याश्रयत्व रूप श्रेष्ठत्वोपेता तथा सर्व वस्तु शोधकत्वरूप श्रेष्ठत्वोपेतो वर्तते तादृशमग्नि (आदधे)

स्थापयामि ॥ ५ ॥

अथ सर्पराज्ञी कद्रूः पृथिव्यभिमानिनी तया दृष्टं तृचं सार्पराज्ञी तयाऽऽहवनीय मुपतिष्ठते, ततो दक्षिणाग्निमादधाति--

आय गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।
पितरञ्च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

अन्तश्चरति रोचनाऽस्य प्राणादपानती।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ २ ॥

त्रिंशद्धाम विराजती वाक् पतङ्गाय धीयते।
प्रतिवस्तो रहद्युभिः ॥ ३ ॥

यज्ञनिष्पत्तये तत्तद्यजमानगृहेषु गन्ता लोहित शुक्लादि बहुविधज्वालोपेतत्वात् (पृश्निः चित्रवर्णश्च (अयम्) दृश्यमानः (गौः) सूर्यस्याग्निरा हवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्न स्थानेषु (आ) सर्वतः (अक्रमीत्) पाद विक्षेपं कृतवान्। तथाहि (पुरः) प्राच्यां दिशि (मातरम्) पृथिवीम् (प्रयन्) सञ्चरन् (पितरम्) द्युलोकमपि प्राप्तवान् ॥१॥

"द्यौः पिता पृथिवी माता" इति च श्रूयते बहुधा। अत्रेदं बोध्यम् पिण्डात्मिकायाः पृथिव्याः यस्मिन् भागे सूर्यस्य तेजः प्रसरति स प्राची दिग्भागः सूर्य तेजः सम्पृक्तत्वात् आहवनीय रूपेणोच्यते, तावानेव पृथिव्याः

पश्चिमो भागः गार्हपत्य रूपेणोच्यते मध्ये च तयोः योभागः स आन्तरीक्ष्याग्निः दक्षिणाग्नि र्वा उच्यते इति ।

एवमादित्यरूपेणाग्निं स्तुत्वा वायुरूपेण स्तौति--

(अस्य) अग्नेः (रोचना) काचिच्छक्ति र्वाय्वाख्या सर्वशरीरेषु (प्राणात्) प्राणव्यापारादनन्तरम् (अपानती) अपानव्यापारं कुर्वती (अन्तः) द्यावापृथिव्यो मध्ये (चरति) चरति, सोऽयमेव (महिषः) महानग्निः वाय्वादित्याभ्यां स्वशक्तिभूताभ्यामिदं जगदनुगृह्य अनुष्ठातृभ्या भागस्थानं (दिवम्) द्युलोकम् (व्यख्यत्) विशेषेण प्रकाशितवान् प्रकाशयति च ॥२॥

सति हि जठराग्नौ जीवनहेतौ रौष्मस्य शरीरे सद्भावात् प्राणापानौ प्रवर्तते तस्मादग्निः प्राणापानरूपः ॥

"अन्तरिक्षेऽय तिर्यङ् वायुः पवते" इति श्रुतिः ।
"अग्नि व महिषः स इदं जातो महान्" इति श्रुतिः ।

(त्रिंशद्धाम) अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्ता धामानि भवन्ति तेषुया (वाक्) वाक् (विराजती) विराजति सा (पतङ्गाय) अग्न्यर्थम् (धीयते) उच्चार्यते । किञ्च (प्रति वस्तो) प्रत्यहम् (द्युभिः) यागपारायणाद्युत्सवभूतैरहोभिः स्तुतिलक्षणा सा सर्वापि (पतङ्गाय) अग्न्यर्थम् (अह) एव नान्यस्यै देवतायै ॥३॥ यतन् गच्छति पतङ्गः । यतोह्यरण्योः पतन् गार्हपत्यभावं

गच्छति ततः पतन्नाहवनीयतामित्यतोऽग्निः पतङ्गः । अहेति निपातो विनिग्रहार्थः ॥

इत्यग्न्याधेय मन्त्रा अष्टौ व्याख्याताः ।

इत्याधान प्रकरणम् ॥ १ ॥

अतः परं होम प्रकरणम्

अथाग्निहोत्र होम मन्त्रा--

तत्र प्रदोप्तां समिधमभिलक्ष्य--

अग्नि ज्योति ज्योतिरग्निः स्वाहाः ॥ १ ॥

इति सायं जुहुयात् ।

सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥ २ ॥

इति प्रात जुहुयात् ।

यस्तु ब्रह्मवर्चस कामः सः--

अग्निर्वर्चो ज्योति र्वर्चः स्वाहा ॥ ३ ॥

इति सायं जुहुयात् ।

सूर्यो वर्चो ज्योति र्वर्चः स्वाहा ॥ ४ ॥

इति प्रात जुहुयात् ।

ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ५ ॥

इति वा प्रात जुहुयात् ।

(अग्नि) योऽयमग्निर्देवः स एव (ज्योतिः) दृश्यमान ज्योतिः स्वरूपम् । (ज्योतिः) यच्चेदं दृश्यमानं ज्योतिः (अग्निः) तदेवाग्निर्देवः तस्मै ज्योतीरूपायाग्नये (स्वाहा) हविः प्रदीयते ।

"अग्निमादित्यः सायं प्रविशति तस्मादग्नि दूरान्नक्तं ददृशे । उभे हि तेजसी सम्पद्येते । उद्यन्तं वाऽऽदित्यं ज्योतिः स्वरूपोऽग्निरनु समारोहति तस्माद्धूम एवाग्ने र्दिवा ददृशे" इति तैत्तरीयश्रुति ॥

अथवा—

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्नि र्वेतु स्वाहा ॥ १ ॥

इति साय जुहुयात् ।

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ २ ॥

इति प्रात जुहुयात् ।

(सवित्रा) प्रेरकेण (देवेन) परमेश्वरेण (सजूः) समान प्रीतिः, तथा (इन्द्रवत्या) इन्द्र देवोपेतया (रात्र्या) रात्रि देव तया (सजूः) समान प्रीतिः (अग्निः) अग्निः (जुषाणः) प्रीतियुक्तः सन् आहुति (वेतु) भक्षयतु अतः (स्वाहा) तस्मै हवि र्दीयते । यथाऽयमग्निः सायं तथा सूर्यः

प्रात हविर्भक्षयतु ॥

इति होममन्त्राः ।

अथोपस्थान मन्त्राः ।

तत्र तावद् बृहदुपस्थान देवदृष्टम् ।

सायमाहुत्यां हुतायां यजमान उत्थाय आहवनीय गार्हपत्यावग्नी उपतिष्ठते । तत्र तावदाहवनीयोपस्थान मन्त्रा--

उप प्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये ।
आरे अस्मे च शृण्वते ॥ १ ॥

(अध्वरम्) यज्ञम् (उपप्रयन्तः) उपगच्छन्तः वयं तस्य (अग्नये) अग्नेरुद्देशेन (मन्त्रम) मन्त्रम् (वोचेम) वोचेम यो हि (आरे) दूरे (अस्मे च) अस्मत् समीपे च (शृण्वते) शृणोति ॥ १ ॥

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥ २ ॥

(दिवः) द्युलोकस्य उपरिकृत्या (मूर्धा) शिरः समानः (ककुत्) आदित्यरूपेण सर्वोपरिस्थित्या गोस्कन्धसमानः श्रेष्ठो वा (पृथिव्याः) वाह पाक प्रकाशैः पृथिवीस्थानाम् (पति) परिपालकः (अयम्) अयम् (अग्निः) अग्निः (अपाम्) द्युलोकात् वृष्टिरूपेण पतन्तीनामपाम् (रेतांसि) साराणि व्रीहि यवादि रूपेण परिणतानि (जिन्वति) वर्धयति, यद्वा (अपां

रेतांसि) अपां कारणानि (जिन्वति) पुष्णाति- आहुति परिणामेन वृष्टिं जनयति ॥ २ ॥

उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या,
उभा राधसः सह मादयध्यै ।
उभा दातारात्रिषां रयीणाम्,
उभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ॥ ३ ॥

हे (इन्द्राग्नि) आहवनीय गार्हपत्यौ (वाम्) युवाम् [उभौ] उभावपि [आहुवध्या आह्वातुमिच्छामि, तथा [राधसः] हविलक्षण धनात् युवाम् [उभा] उभावपि [सह] युगपत् [मादयध्यै] मादयितुं हर्षयितुं वा इच्छामि, यतः (उभा) उभौ युवाम् (इषाम्) अन्नानाम् (रयीणाम्) धनानांच (दातारौ) दातारौ स्थः, अतः (उभा) उभौ (वाम्) युवाम् (वाजस्य) अन्नस्य (सातये) दानाय (हुवे) आह्वयामि ॥ ३ ॥

अथाग्नेय्यस्तिस्रः--

अयं ते योनि ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ ४ ॥

हे (अग्ने) आहवनीय ! (अयम्) गार्हपत्यः (ते) तव (योनिः) उत्पत्तिस्थानमस्ति, योहि सायं प्रातः काले उत्पादन योग्यत्वादिदानीं (ऋत्वियः) प्राप्त ऋतुकालः (यतः) यस्माच्च ऋतुकालोपेताद्गार्हपत्यात् (जातः) उत्पन्नात् त्वं कर्मकाले (अरोचथाः) दीप्तोऽभूः, हे अग्ने ! (तम्) गार्हपत्यम

(जानन्) जानन् पुनरुद्धरणाय कर्मान्ते आरोह) प्रविश, (अथ) अनन्तरम् (नः) अस्मदर्थम् (रयिम्) धनम् (वर्धया) वर्धय यतः पुनर्यागं कुर्याम् ॥ ४ ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभि
र्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचु
र्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे ॥ ५ ॥

[अयम्] आहवनीयः [इह] कर्मानुष्ठाने [प्रथमः] मुख्य इति [धातृभिः] आधान कर्तृभिः [अधायि] आहितोऽभूत, यत [यजिष्ठः] अतिशयेन यष्टा [होता] देवानामाह्वाता [अध्वरेषु] सोमयागादिषु ऋत्विग्भिः [ईड्य] स्तुत्यश्चायं भवति, [यम्] यञ्च विविधकर्मोपयोगीत्वेन [चित्रम्] आश्चर्यकारिणम् [विश्वम्] विभुत्व शक्तियुतम् [अप्नवानः] अपत्यवन्तः [भृगवः] भृगुवंशोत्पन्न मुनयः [विशे विशे] प्रत्येक यजमानार्थं [वनेषु] ग्रामाद् बहिः यजमानाख्यारण्य प्रदेशेषु [विरुरुचुः] दीपयन्तिस्म ॥ ५ ॥

अस्य प्रत्नामनु द्युतिं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः ।
पयः सहस्रसामृषिम् ॥ ६ ॥

[अस्य] अग्नेः [प्रत्नाम्] पुरातनी (द्युतिम्) दीप्तिम् (अनु) अनुसृत्य (अह्रयः) लज्जारहिता दोग्धारः (सहस्रसाम्) क्षीर दध्याज्य हविः प्रदानादनेकानेक कर्म समाधिकाम् (ऋषिम्) गाम् [शुक्रम्] शुद्धम् (पयः) पयः [दुदुह्रे]

दुदुहिरे इत्याह । यद्वा —

मालिन्याभावेन [अह्रयः] निर्लज्जा विशुद्धा गावः [अस्य] अग्नेः [प्रत्नाम्] चिरन्तनीम् आत्मानुषक्तां [द्युतिम्] द्युतिं [शुक्रम्] शुक्ररूपामन्नाम् [अनु] अनु [पयः] पयः [दुदुह्रे] दुदुहिरे । यत् पयः [सहस्रसाम] सहस्रशः कर्माणि चातुर्मास्य पशु सोमादीनि सनोति [ऋषिम] अर्षति च ॥ ६ ॥

अग्निना शुक्ररूपेण सिक्तं तेज एवं गावो दुग्ध-रूपेण क्षरन्ति । सोऽयमर्थः स्पष्टीकृतोऽग्निहोत्र ब्राह्मणे--

"तासु हाऽग्निरभिदध्यौ मिथुन्येनया स्यामिति, तां संबभूव, तस्यां रेतः प्रासिञ्चत्, तत्पयोऽभवत्" इति । तासु गोषु ॥

अथ यजुर्मन्त्रा--

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ।
वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥ ७ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! जठरे विद्यमाने सति त्वयि अन्नानि जीर्यन्ते रसासृगादिरूपैः परिणमन्ते च अतः त्वं (तनूपा) शरीर पालकः (असि) असि । हे (अग्ने) अग्ने ! वपुषि उदराग्नि-रूपेण विद्यमाने सति त्वयि औष्ण्यमुपलभ्यते, यावत्कालमिद-

मौष्ण्यमुपलभ्यते तावन्नम्रियते इति मृत्यु परिहारेण त्वम् (आयुर्दा) आयुर्दायकः (असि) असि! हे (अग्ने) अग्ने! वैदिक कर्मानुष्ठान साधके त्वयि विद्यमाने सति तत्कर्म जनितं वर्च उपलभ्यते अतः त्वम् (वर्चोदा) वर्चोदायकः (असि) असि। अतः हे अग्ने! (मे) मम (तन्वम्) शरीरम् (पाहि) रक्ष, (मे) मह्यम [आयुः] आयुः [देहि] देहि, [मे] मयि [वर्चः] वैदिक कर्मानुष्ठान प्रयुक्तं तेजः [देहि] देहि। किञ्च हे [अग्ने] अग्ने! [मे] मम [तन्वा] शरीरस्य [यत्] यदेवाङ्ग चक्षु-रादिकम् [ऊनम्] दृष्टिपाटवादिरहितम् [तत्] तत्सवम् [मे] मयि [आपृण] सर्वतः पूरय।

यद्दर्शनादेवायं ब्राह्मणस्तपसाऽग्निरिव ज्वलतीति बुद्धिर्भवति तदिद वैदिककर्मानुष्ठान प्रयुक्तं तेजो वर्चः।

इन्धानास्त्वा शतंहिमा द्युमन्तं समिधीमहि।
वयस्वन्तो वयस्कृतं सहस्वन्तः सहस्कृतम्।
अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम्।
चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ॥ ८ ॥

हे [अग्ने] अग्ने! त्वदनुग्रहेण [इन्धानाः] दीप्यमाना वयं [द्युमन्तम्] दीप्तिमन्तम् [त्वा] त्वाम् [वयस्वन्तः] अन्न-वन्तो वयम् [वयस्कृतम्] अन्नप्रदातारम् त्वां। सहस्वन्तः] बलवन्तो वयं [सहस्कृतम] बलप्रदातारम् त्वां [अदब्धासः] अनुपहिंसिता वयम् [अदाभ्यम्] अनुपहिंसनीयम् [सपत्नदम्भ-नम] शत्रुणामुपहिंसितारं च त्वाम् [शतं हिमाः] शतवर्षपर्यन्तं [समिधीमहि] प्रज्वालयामः। हे [चित्रावसो] रात्रे! [स्वस्ति]

निरुपद्रवं यथास्यात्तथा [ते] तव [पारम्] अन्तम् [अशीय] प्राप्नुयाम् ।

चौरादिवदत्र देवयजने रक्षसां प्रवृत्तिविनिवृत्तये 'अग्निप्रतापेनेय रात्रिः सुखेन मे समाप्नोतु' इत्याशंसति । "रात्रि वै चित्रावसुः—साहीयं संगृह्येव चित्राणि वसति ।" इति श्रुतिः (२।३।४।२२)। वसन्ति हि रात्रौ विविधानि चन्द्र नक्षत्रान्धकार रूपाणीति चित्रा-वसुः सा भवति ॥

एतावत् पर्यन्त मुत्थित एवोपतिष्ठेत् ।
अतः परमुपविश्योपतिष्ठेत् ।

स त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसाऽगथाः
समृषीणां स्तुतेन, सं प्रियेण धाम्ना ॥
समहमायुषा, सं वचसा, सं प्रजया,
सं रायस्पोषेण ग्मिषीय ॥ ६ ॥

हे [अग्ने] अग्ने ! [त्वम्] त्वम् इदानीं रात्रौ [सूर्यस्य] सूर्यस्य [वर्चसा] तेजसा [समगथाः] सङ्गतोऽसि [ऋषीणाम्] अग्निस्तावकानामुपस्थानादि मन्त्राणां [स्तुतेन] स्तोत्रेणापि त्वं [समगथाः] सङ्गतोऽसि, एव [प्रियेण धाम्ना] प्रियाभिराहुतिभिश्च (समगथाः) सङ्गतोऽसि । तदित्थं यथा त्वमेतैस्त्रिभिः सङ्गतः एवम (अहम्) अहमपि त्वत्प्रसादात् [आयुषा] पूर्णायुषा [सग्मिषीय] सगतो भूयासम्, [वचसा] विद्यैश्च-

यादि प्रयुक्त तेजसा [संग्मिषीय] संगतो भूयासम, [प्रजया] पुत्रादि प्रजया [संग्मिषीय] संगतो भूयासम्, [रायस्पोषेण] धन सम्पत्या च (संग्मिषीय) संगतो भूयासम।

"तद्यदरतं यन्नादित्य आहवनीय प्रविशति तेनैतदाह। तद्यदुपतिष्ठते तेनैतदाह। आहुतयो वा अस्य प्रियं धाम" इति श्रुतयः (२।३।४।२४)॥

अतः परं यजुर्दू येन गां गच्छति! हे गाव यूयम्।

अन्धस्थान्धो वो भक्षीय महस्थ महो वो भक्षीय, ऊर्जस्थोर्जं वो भक्षीय, रायस्पोषस्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ॥१०॥

हे गावः! यूयम [अन्धः] क्षीराज्यादिरूपस्यान्नस्य जनकत्वादुपचारेण अन्नरूपाः [स्थ] स्थ, अतो भवत्प्रसादादहं [वः] युष्मत्सम्बन्धि [अन्धः] क्षीराज्यादिरूपमन्नं [भक्षीय] सेवेय। तथा यूयम [महः] पूज्यरूपाः [स्थ] स्थ, अतः पूज्यानां [वः] युष्माकं प्रसादादहमपि [महः] पूज्यत्वं [भक्षीय] सेवेय, यद्वा यूयम् [महः] दश वीर्यरूपाः [स्थ] स्थ, अतो [वः] युष्माकं तद् [महः] वीर्यमहं [भक्षीय] सेवेय। तथा [ऊर्जः] गोक्षीरादे र्बल हेतुत्वादुपचारेण यूय बलरूपाः [स्थ] स्थ, अतः [वः] युष्माकं प्रसादाद् [ऊर्जम] बलं [भक्षीय] सेवेय। एवं [रायस्पोषः] क्षीराज्यादि विक्रयेण धन वर्धनादुपचारेण धन पुष्टिरूपाः [स्थ] स्थ, अतः [वः] युष्माक प्रसादाद् [रायस्पोषम्] धन पुष्टिमहं [भक्षीय]

सेवेय ॥ १० ॥

"यथा गौ र्वै प्रतिधुक् तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्य मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमीक्षा तस्यै वाजिनम्" इति श्रुत्युक्तानि दश वीर्याणि महः। प्रतिधुक् तत्काल दुग्धम्। शृतमुष्णदुग्धम्। शरो दुग्ध मण्डः। मस्तु दधि-रसः। आतञ्चनं दधि पिण्डः। आमीक्षा स्फुटितं दुग्धम्। वाजिनमामीक्षा जलम्।

रेवती रमध्व मस्मिन् योना वस्मिन् गोष्ठे, ऽस्मिं-ल्लोके, ऽस्मिन्क्षयं, इहैव स्त मापगात ॥११॥

हे [रेवतीः] रेवत्यः! हे धनवत्यो गावः! यदीच्छथ [अस्मिन्] अस्मिन् अग्निहोत्र हवि र्दोहनोपयोगिनि [योनौ] स्थाने [रमध्वम्] सञ्चार प्रदेशे विहरत। [अस्मिन्] यजमान-सम्बन्धिनि [गोष्ठे] गोवाटे [रमध्वम्] विहरत। [अस्मिन्] यजमान दृष्टिविषये (लोके) बहिः सञ्चार प्रदेशे (रमध्वम्) विहरत। रात्रौ वा (अस्मिन्) अस्मिन् (क्षये) यजमान गृहे (रमध्वम्) विहरत। तदेवं विहरण प्रदेशानुपलम्भ प्रयुक्तावरोध क्लेशो युष्माकं न संभविष्य तीत्यतो यूयम् (इहैव) यजमान सन्निधौ (स्त) तिष्ठत, (मा चगात) अन्यत्र न गच्छत ॥ ११ ॥

"पशवो वै रेवन्तः" इति श्रुतिः (श० २।३।४।२६)।

अथ गामालभमानो ब्रूते ।

संहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन । १२॥

हे गौः ! त्वम् (विश्वरूपी) शुक्लकृष्णादि बहुरूपा (सहिता) क्षीराज्यादि हविर्दानाय यज्ञकर्मभिः संयुक्ता (असि) असि सा त्वं (ऊर्जा) क्षीराज्यादिरसेन (गौपत्येन) गोस्वामित्वेन च (मा) माम् (आविश) सर्वतः प्रविश—त्वत्प्रसादान्मे बहुविधो रसो गोस्वामित्वं च सम्पद्यताम् ॥ १२ ॥

अथ गार्हपत्योपस्थान मन्त्राः ।

अतः परं गार्हपत्याग्निं गत्वोपतिष्ठते—

उपत्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥१॥
राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम् ।
वर्धमानं स्वे दमे ॥२॥

हे [अग्ने] अग्ने ! हे [दोषावस्तः] रात्रौ वसनशील ! गार्हपत्ये [वयम्] यजमानाः [धिया] श्रद्धायुक्तया बुद्ध्या [नमः] नमस्कारम् [भरन्तः] आवहन्तः [दिवे दिवे] प्रतिदिनम [त्वा] त्वाम् [उप+एमसि] उपैमः—त्वां प्रत्यागच्छामः ॥ १ ॥ किञ्च—

[राजन्तम्] दीप्यमानम् [अध्वराणाम्] यज्ञानाम् [गोपाम्] गोप्तारम् ऋतस्य सत्यलक्षणव्रतस्य [दीदिवम्] दीपयितारम् [स्वे] मदीये निजे [दमे] गृहे [वर्धमानम्] चातुर्मास्य सोम पश्वादिभि रभिवृद्धिं गच्छन्तं त्वामुपैमः ॥ २ ॥

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥३॥

हे [अग्ने] अग्ने गार्हपत्य ! [सः] ईदृश गुण युक्तस्त्वम् (नः) अस्माकम् (सूपायनः) सुखेनोपैतु शक्यः (भव) भव, (इव) यथा (पिता) पिता (सूनवे) पुत्राय निर्भयमुपगम्यते । किञ्च—(नः) अस्माकम् (स्वस्तये) क्षेमाय (सचस्व) कर्मणि समवेतो भव—यथा पिता पुत्रस्य कल्याणे व्यापृतो भवति दुःखादि त्राणाय च तै निःशङ्कमाश्रीयते तथैव त्वमस्मदर्थे भवेत्याह ॥ ३ ॥

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ॥१॥
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः ॥२॥

हे (अग्ने) अग्ने गार्हपत्य ! (त्वम्) त्वम् (नः) अस्माकम् (अन्तमः) समीपवर्ती (भवा) भव (उत) अपिच (त्राता) पालयिता (शिवः) शान्तः (वरूथ्यः) गृहाय हितः (भवा) भव ॥ १ ॥

हे अग्ने ! त्वम् (वसुः अग्निः) जनानां वासयिता वसु नामकोऽग्निरसि (वसुश्रवा) धनेन कीर्तिमानसि, स त्वम् (अच्छा नक्षि) अभिव्याप्नुहि । यद्वा—हे (अच्छ) निर्मलाग्ने ! (अनक्षि) अस्मद्धामस्थानं गच्छ । किञ्च—(द्युमत्तमम्) अति दीप्ति युक्तं (रयिम) धनम् (दा देहि ॥ २ ॥

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नून
मीमहे सखिभ्यः ॥३॥

सनो बोधि श्रुधी हवमुरुष्याणो

अघायतः समस्मात् ॥४॥

हे (शोचिष्ठ) दीप्तिमत्तम! हे (दीदिवः) सर्वस्य दीपयितः! (तम्) पूर्वोक्त गुणयुक्तम् (त्वा) त्वाम (सखिभ्य) अथाय (सुम्नाय) सुखाय (नूनम्) निश्चयेन (ईमहे) याचामहे, यद्वा—(सुम्नाय) सुखार्थं (सखिभ्यः) अस्मत् सखीनामुपकाराय च (त्वा) त्वाम् (ईमहे) याचामहे ॥ ३ ॥

(स) स त्वन् (नः) अस्मात् (बोधि) बुध्यस्व, तथाऽस्मदीयं (हवम्) आह्वान (श्रुधि) शृणु, (समस्मात्) सर्वस्मात् (अघायतः) शत्रोः (नः) अस्मान् (उरुष्य) परिरक्ष ॥ ४ ॥

अथ गां गच्छति—

इड एह्यदित एहि। काम्या एत,

मयि वः कामधरणं भूयात् ॥१७॥

हे (इडे) इडे! (एहि) आगच्छ, हे (अदिते) अदिते! [एहि] आगच्छ होमस्थानम्। अतिदेशोऽयम्। हे गौः! इडायथा मनु तथा त्वमस्मानेहि। अदितिर्यथा आदित्यान् तथा त्वमस्मानेहि। अथगामालभमानो ब्रूते—

हे [काम्याः] सर्वैः कामयितव्याः गावः! यूयम [एत] आगच्छत [वः] युष्माकम [कामधरणम्] अपेक्षित फलधारकत्वम् [मयि] मयि [भूयात्] भूयात्—युष्मत् प्रसादादहमभीष्टफलधारयिता भूयासम्। यद्वा—मयि युष्माकमनुरागस्थितिर्भूयात्। तथा च श्रुतिः—'अहं वः प्रियो भूयासम्'।

इडा मनोर्दुहिता। अदिति र्देवमाता।

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्त य औशिजः ॥१८॥

हे [ब्रह्मणस्पते] वेदस्य पालक ! [यः] यः [औशिजः] उशिजो गर्भजातस्य दीर्घ तमसः औरसः पुत्रः तम [कक्षीवन्तम्] कक्षीवन्तम ऋषिम् [सोमानम] अभिषोतारम् [स्वरणम्] शब्दयितारम् [कृणुहि] कुरु। अतिदेशोऽयम्। कक्षीवन्तमिव मां सनय गकर्तारं स्तोतारं च कुरु।

यो रेवान योऽमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः।
स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥१९॥

[यः] यो ब्रह्मणस्पतिः [रेवान्] धनवान् [यः] यश्च [अमीवहा] रोगस्यहन्ता [वसुवित्] धन ज्ञाता [पुष्टिवर्धनः] पोषकः [यः] यश्च [तुरः] वेगशीलोऽविलम्बितकारी [सः] स ब्रह्मणस्पतिः [नः] अस्मान् [सिषक्तु] सेवताम्।

यद्वा—[रेवान] धनवान् [अमीवहा] व्याधिहन्ता [वसुवित्] धनोपार्जकः [पुष्टिवर्धनः] पोषकः [तुरः] शीघ्रकारी च पुत्रः [नः] अस्मान (सिषक्तु) सेवताम्।

मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य।
रक्षाणो ब्रह्मणस्पते ॥२०॥

हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्मणस्पते ! (नः) अस्मान (रक्ष) रक्ष येन कदाचिदपि (अररुषः) हविर्दानमकृतवतो (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य (शंस) अनिष्ट चिन्तनम् द्रोहोवा (धूर्तिः) हिंसा च

(नः) अस्मान (मा प्रणक) न व्याप्नुयात्—न नाशयेत । २०॥
ररीस ररिवान् तस्यायं प्रतिषेधः । शसोऽनिष्ट चिन्तनम् ; धूर्तिहिंसा ॥

महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः ।
दुराधर्षं वरुणस्य ॥२१॥

(मित्रस्यार्यम्णो वरुणस्य) मित्रस्यार्यम्णो वरुणस्येति (त्रीणाम) त्रयाणां देवानाम् सम्बन्धी (महि) महत् (द्युक्षम्) प्रकाशाश्रयम् (दुराधर्षम । तिरस्कर्तुमशक्यम (अवः) रक्षणम् (अस्तु) भवतु ॥ २१ ॥

न हि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु ।
ईशे रिपुरघशंसः ॥२२॥

सताम (तेषाम्) मित्र वरुणार्यम पालकानाम् (हि) यत स्तावत् (न) न (वारणेषु) वारण प्रधानेषु (मार्गेषु) चोर व्याघ्रादि भयाढ्येषु मार्गेषु गच्छता अपिवा (अमाचन) गृहेष्वपि (अघशंसः) घातकः (रिपुः) रिपुः (ईशे) प्रभवति । मित्रादिभिः पालितानामस्माकं गृहेऽरण्ये वा नास्ति शत्रुबाधः ॥ २२ ॥

ते हि पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय ।
ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥२३॥

(हि) यतः (ते) मित्रार्यमवरुणाः (अदितेः) अखण्डितशक्ते र्देवमातुः (पुत्रासः) पुत्राः (मर्त्याय) मनुष्याय यजमानाय (जीवसे) जीवितुम (अजस्रम) निरन्तर मनुपक्षीणम् (ज्योतिः)

तेजः (प्रयच्छन्ति) प्रयच्छन्ति ततो न पूर्वोक्तः शत्रुबाधः ॥२३॥

अयं तृचः पथि जप्त उपद्रवनाशको भवति ।

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।

उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥२४॥

हे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त ! त्वं (कदाचन) कदापि (स्तरीः) हिंसकः (न) न (असि) असि; (नु) किन्तु (दाशुषे) हविर्दत्तवन्तं यजमानम् (सश्चसि) सेवसे । हे (मघवन् धनवन् ! (देवस्य) प्रकाशमानस्य (ते) तव (भूयः) बहुतरम् (इत) एव (दानम्) दानम् (नु) क्षिप्रम् (इत) एव दाश्वांसम् (उपोप पृच्यते) उपगच्छति । न कदाचित् यजमानं प्रति क्रुध्यसि, सेवसे च तं, त्वदीयं भूयो धनं दाश्वांसमुपगच्छति इत्यर्थः ॥ २४ ॥

इदेवार्थः नु क्षिप्रार्थः ॥

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥२५॥

(तत्) तस्य (सवितुः) सर्वप्रेरकस्य (देवस्य) देवस्य (वरेण्यम्) आराध्यं वीर्यम् (धीमहि) ध्यायामः (यः) यः (नः) अस्माकं (धियः) बुद्धीः कर्माणि वा (प्रचोदयात्) प्रेरयति ॥ २५ ॥

"वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानाद् भर्गोऽपचक्राम । वीर्यं वै भर्गः" इति श्रुतिः (श० ५ । ४ । ५ । १) ।

मण्डलं पुरुषा रश्मयः इत्यपि त्रयं भर्ग शब्दाभिधेयम् ।

परि ते दूडभो रथोऽस्मानश्नोतु विश्वतः ।
येन रक्षसि दाशुषः ॥२६॥

हे अग्ने ! (दूडभः) दुर्दभः केनापि सहसा हिंसितुमशक्यः (ते) तव (रथः) रथः अस्मान् (परि) सर्वतः (अश्नोतु) आप्नोतु (येन) रथेन त्वं (दाशुषः) यजयामानान् (रक्षसि) पालयसि ॥ २६ ॥

"यजमाना वै दाश्वांसः" इति श्रुतिः (२।३।४।३८) ॥

इति वृहदुपस्थानं समाप्तम् ।

अथ क्षुल्लकोपस्थानम् । आसुरि दृष्टम् ॥

भूर्भुवः स्वः—सुप्रजाः प्रजाभिः यां सुवीरो
वीरैः सुपोषः पोषैः ॥१॥

हे अग्ने ! गार्हपत्य ! आहवनीय ! वा त्वं (भूर्भुवः स्वः) व्याहृतित्रयात्मकः लोक त्रयात्मको वाऽसि, अतस्त्वत्प्रसादादहं (प्रजाभिः) बन्धुभृत्यादि रूपाभिः कृत्वा (सुप्रजाः) सुप्रजाः (स्याम्) भवेयम्, तथा (वीरैः) पुत्रैः (सुवीरः) सुपुत्रवान् (स्याम्) भवेयम्, एवम् पोषैः पोषक सामग्रीभिर्हिरण्यादिद्रव्यैः (सुपोषः) सुपुष्ट (स्याम्) भवेयम् ॥ १ ॥

नर्य प्रजां मे पाहि, शंस्य पशून्मे पाहि,
अथर्य पितुं मे पाह ॥२॥

अथ यजमानो यदि ग्रामान्तरं गन्तुमिच्छति तदानीं सर्वानग्नीनुपतिष्ठेत् तदिदं प्रवत्स्यदुपस्थानमुच्यते ।

तथा हि—

हे (नर्य) नरेभ्यो हित गार्हपत्य ! (मे) मम (प्रजाम्) प्रजाम् (पाहि) रक्ष । हे (शंस्य) अनुष्ठातृभिः प्रशसनीय आहवनीय ! (मे) मम (पशून्) पशून् (पाहि) रक्ष । हे (अथर्य) सततं गार्हपत्यात् स्वस्थानं प्रति गमनशील दक्षिणाग्ने ! (मे) मम (पितुम्) अन्नम् (पाहि) रक्ष ॥ २ ॥

अथ प्रत्यावृत्तः समित्पाणिः कश्चिदपि जनमगत्वैव प्रथममेवाग्न्यागारं प्राप्य आहवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्नीन् प्रत्येकमुपतिष्ठेत् इदमागतोपस्थानमुच्यते। तत्र तावदाहवनीयमुपतिष्ठते—

आगन्म विश्ववेदस मस्मभ्यं वसु वित्तमम् ।
अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥१॥

हे (अग्ने) अग्ने ! हे (सम्राट्) सम्राट् ! आहवनीय ! (विश्ववेदसम्) सर्वज्ञम् सर्वधन वा (अस्मभ्यम्) अस्मदर्थम् (वसुवित्तमम्) अतिशयेन धनस्यलब्धारं त्वां दृश्य वयं ग्रामान्तरात् (आगन्म) प्रत्यागताः स्म स त्वम् अस्मभ्यम् (द्युम्नम्) यशः (सहः) बलं च (अभ्यायच्छस्व) देहि ॥ १ ॥

अथ गार्हपत्य मुपतिष्ठते—

अयमग्नि र्गृहपति गार्हपत्यः प्रजाया वसु वित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ २ ॥

[अयम्] पुरोऽवस्थितः [अग्नि] अग्निः [गार्हपत्यः] गार्हपत्यः [गृहपतिः] गृहस्थ पालकोऽस्ति. [प्रजायाः] पुत्रपौत्र-

दिकायै अनुग्रहार्थं [वसुवित्तमः] अतिशयेन धनस्य लब्धा भवति तं याचे - हे [अग्ने] अग्ने ! हे [गृहपते] गृहपते गार्हपत्य ! स त्वं [द्युम्नम्] यशः [सहः] बलं च [अभ्यायच्छस्व देहि ॥ २ ॥

एवं दक्षिणाग्निमुपतिष्ठते--

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धन ।

अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ ३ ॥

[अयम्] अयम् [अग्निः] अग्निः [पुरीष्यः] पशव्यः [रयिमान्] धनवान् [पुष्टिवर्धनः] पुष्टि वर्धयिता च तं याचे हे [अग्ने] अग्ने ! हे [पुरीष्य] पशुहित ! दक्षिणाग्ने ! त्व अस्मभ्यं [द्युम्नम्] यशः [सह] बलं च [अभ्यायच्छस्व] देहि ॥ ३ ।

"पशवो वै पुरीषम्" इति श्रुतिः ।

अथैवं ग्रामान्तरादागतो गृहानुपैति--

गृहा मा बिभीत मावेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ।

ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ १ ॥

हे [गृहाः] गृहाः पालको यजमानो गत इति [मा विभीत] भयं मा कुरुत कोऽपि शत्रुरागत्य विनाशयिष्यतीति बुध्या [मा वेपध्वम्] कम्पं मा कार्ष्टः यतोवयं [ऊर्जम्] ऊर्जं [बिभ्रतः] धारयमाणानेव युष्मान् [एमसि] आगताः स्म, यथा यूयमूर्जं बिभ्रतः मथाऽहमपि [ऊर्जं] ऊर्जं [बिभ्रद्]

धारयन् [सुमनाः] सुप्रसन्नः [सुमेधा] सुष्ठु धारणा प्रज्ञोपेतः [मनसा] दुःख रहितेन मनसा [मोदमानः] हृष्यन् [वः] युष्मान् [ऐमि] प्रत्यागच्छामि ॥ १ ॥

येषा मध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः, गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ २ ॥

अथ [प्रवसन्] देशान्तरं गच्छन् यजमानः [ऐषाम्] यान् गृहान् [अध्येति] स्मरति [ऐषु] ऐषु च गृहेषु यजमानस्य [बहुः] अति शयितः [सौमनसः] प्रेमा तान् [गृहान्] गृहान् वयम् [उपह्वयामहे] आह्वयामः [ते] वास्तु देवाः आहूताः सन्तः [जानतः] उपकाराभिज्ञान् [नः] अस्मान् [जानन्तु] जानन्तु ॥ २ ॥

उपहूता इह गाव, उपहूता अजावयः, अथो अन्नस्य कीलालं उपहूतो गृहेषु नः, क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये, शिवं शग्मं शंयोः शंयोः ॥ ३ ॥

अस्माकं गृहेष्वेतेषु [गावः] धेनवो बलीवर्दाश्च [उपहूता इह] सुखेनात्र स्थानाय संप्रत्यस्माभि रनुज्ञाताः खलु । एवमेव [अजावयः] छागा मेषाश्च [उपहूताः] अत्र अवस्थानाय उपहूताः । [अथ उ] अपिच [अन्नस्य] अन्न सम्बन्धी [कीलालः] रसविशेषोऽपि [नः गृहेषु] अस्मदीय गृहेषु [उपहूतः] समृद्धो भवतु इत्येवमनुज्ञातम् । हे गृहाः ! [क्षेमाय] विद्यमान वसु संरक्षणरूप क्षेमाय [शान्त्यै] सर्वारिष्ट शमनाय च [वः] युष्मान् [प्रपद्ये] प्रपद्ये अतः [शिवम्] कल्याणं कामयमानस्य [शंयो] शग्मम् ऐहिकं सुखम् [शंयोः शग्मम्]

आमुष्मिकं च सुखं भूयात् ॥ ३ ॥

शंयु र्नाम ऋषिः । अभ्याशः संपूर्तिसूचनार्थः मङ्गलातिशयार्थश्च इति शिवम् ॥ इत्युपस्थान मन्त्रा ॥

आधान होमोपस्थानै स्त्रिभिः प्रकरणैरयम् ।
त्रिपञ्चाशन्मितै र्मन्त्रै रग्नि होत्राधिकारकः ॥ ४ ॥
आहवनीयं नवभि स्त्रिभिरथगां गार्हपत्यंतु ।
सप्तभिरथगां द्वाभ्यां नवभिस्तु ब्रह्मणस्पतिकम् ॥ १ ॥
पञ्चभिरग्नीं स्त्रिभिरथगृहानुपास्ते ह्यु पस्थाने ।
क्षुल्लकमष्टकमन्त्यं बृहदन्यत त्रिंशता क्रमम् । २ ॥
आधान मष्टभि र्होमः सप्तभि त्रिंशता बृहत् ।
उपस्थानं क्षुल्लकं तु मन्त्रैरष्टाभिरिष्यते ॥ ३ ॥

*

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि

—:o:—

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में इस कुल के पिता, अमरकीर्ति, स्वर्गीय श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की पुण्यस्मृति में एक 'श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि' स्थापित हुई है। जो सज्जन चाहें वे इन श्रद्धेय स्वामी जी की स्मृति में इस कुल को प्रतिवर्ष दस या इससे अधिक रुपये देने का प्रतिज्ञापत्र भर कर इसके सभासद् बन सकते हैं। अभी तक ऐसे सभासदों का हमारा परिवार लगभग पांच सौ सज्जनों का बन चुका है। इन्हीं सज्जनों को प्रतिवर्ष गुरुकुलोत्सव पर भेंट करने के लिये यह 'स्वाध्यायमञ्जरी' गुरुकुल से प्रकाशित की जाती है।